NO - 4277

णमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

[भगवान महावीर की वाणी का सार संकलन]

सम्पादक

जगद्वल्लभ जैनदिवाकर

मुनिश्री चौथमल जी महाराज

प्रकाशक

श्री जैनदिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय

महावीर बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

प्रकाशकीय

निर्ग्रन्थ-प्रवचन का यह सरल-सुन्दर संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए आज हम अतीत की अनेक सुखद स्मृतियों में गोता लगा रहे हैं।

आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व एक दिन जगद्वल्लभ, जैनदिवाकर, प्रसिद्धवक्ता पं० श्री चौथमलजी महाराज साहब के अन्तःकरण में एक पुनीत परिकल्पना स्फुरित हुई थी कि साधारण जिज्ञासुओं को जिनवाणी का नित्य स्वाध्याय तथा मनन-चिन्तन हो सके इसलिए आगम वाणी का एक सरल संकलन होना चाहिए।

संकल्प के धनी गुरुदेवश्री ने 'शुभस्य शीघ्रम्' के अनुसार आगम-वाणी का चयन प्रारम्भ किया, गाथाएँ चुनी गईं। उन संग्रहीत गाथाओं को साहित्य प्रेमी गणिवर्य पं० उपाध्यायश्री प्यारचंदजी महाराज ने विषयानुक्रम किया और एक सुन्दर संकलन तैयार हुआ। निर्ग्रन्थ-प्रवचन का जब प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ तो साहित्य जगत में एक हलचल मच गई थी। जिस किसी विद्वान् विचारक और जिज्ञासु सहृदय ने यह पुस्तक देखी, वह झूम उठा और मुक्तकंठ से सराहना करने लगा। कुछ ही समय में इसकी इतनी माँग बढ़ी कि हिन्दी, गुजराती, अँग्रेजी आदि भाषाओं में कई संस्करण प्रकाशित हुए और हाथों-हाथ समाप्त हो गये। निर्ग्रन्थ-प्रवचन का वृहद् भाष्य भी प्रकाशित हुआ तो कई गुटका संस्करण भी छपे।

इतना दीर्घ समय बीत जाने के बाद आज भी इसकी उपयोगिता अपनी जगह है। महावीर वाणी के अनेक नये संकलन प्रकाश में आ चुके हैं, फिर भी 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' की संकलन-संपादन शैली आज भी अनूठी ही है और अपना अलग ही स्थान बनाये हुए है।

अब जैनदिवाकर जन्म शताब्दी के पावन प्रसंग पर हम निर्ग्रन्थ-प्रवचन का नया संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं। इस प्रकाशन में गुरुदेवश्री के प्रमुख शिष्य कविरत्न श्री केवलमुनिजी एवं गुरुदेवश्री के शिष्यरत्न श्री मंगलचंदजी महाराज साहब के शिष्य युवा साहित्यकार श्री भगवतीमुनिजी 'निर्मल' का मार्गदर्शन तथा प्रेरणा हमारा सम्बल रही है। हम उन गुरुवर्य के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। साथ ही प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीचंदजी सुराना 'सरस' का सहयोग भी मुद्रण को अधिक नयनाभिराम बना सका है। हम आशा करते हैं यह संस्करण पाठकों की जिज्ञासा को शांत व तृप्त करेगा।

मन्त्री—
जैनदिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय,
ब्यावर

यह उपक्रम :

भगवान श्री महावीर का २५वां निर्वाण शताब्दी-समारोह भारत एवं विश्व में अत्यन्त उत्साहपूर्वक मनाया जा चुका है। इस आयोजन की अनेक उल्लेखनीय उपलब्धियों में से एक ऐतिहासिक—श्रमण जैन समाज द्वारा मान्य 'समणसुत्तं' का प्रकाशन भी है। इसकी मूल प्रेरणा आचार्य संत विनोबा भावे द्वारा उद्भूत हुई—यह भी एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

यह सच है कि भगवान महावीर की वाणी में आज भी वह अद्भुत शक्ति-स्रोत छिपा है जिसके अनुशीलन-परिशीलन से भ्रान्त-उद्भ्रान्त मानव-चेतना को शांति की अनुभूति होती है। दुर्बल आत्मा में शक्ति का नव संचार होता है।

भगवान की वाणी आगमों में निबद्ध है। उनकी भाषा अर्धमागधी है, और वचन पुष्प विशाल आगम वाङ्मय में यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। सामान्य जिज्ञासु के लिए यह सम्भव भी नहीं है और सुलभ भी नहीं है कि वह आगमों के गम्भीर क्षीर-सागर में गोता लगाकर उस वाणी का रसास्वाद कर सके। अपनी अल्पज्ञता, व्यस्तता तथा आध्यात्मिक अक्षमता के कारण वह विवश है कि चाहते हुए भी आनन्द के उस अक्षय-निर्झर में डुबकी नहीं लगा सकता। यह कितनी विचित्र और दयनीय स्थिति है मानव की कि सामने क्षीर-सागर लहरा रहा है, और वह उसकी एक-एक बूंद के लिए तरस रहा है, अमृत का कलश भरा है, और वह छटपटा रहा है उसकी एक-बूंद के लिए.... अमृत-पान नहीं कर पा रहा है।

जिनवाणी के जिज्ञासु-पिपासु भव्यों की इस विवशता तथा दयनीयता का अनुभव आज बड़ी तीव्रता के साथ हो रहा है, किन्तु आज से लगभग चालीस

वर्ष पहले मानव-चेतना की इस विवशता को एक महर्षि ने, एक मनीषी ने, एक लोक-चेतना के उद्बोधक संत ने बड़ी तीव्रता के साथ अनुभव किया था।

वैदिक विचारानुयायियों के पास 'गीता', और बौद्धों के पास 'धम्मपद' जैसी सार-भूत पुस्तकें थीं, पर जैनों के पास ऐसी सुव्यवस्थित सुसम्पादित कोई एक पुस्तक नहीं थी। जिज्ञासुओं की माँग उठी, और जैनदिवाकर श्री चौथमल जी महाराज की संकल्प-चेतना बलवती बनी। उन्होंने आगमों का गम्भीर अनुशीलन कर भगवान महावीर के उदात्त वचनों का एक सुव्यवस्थित संकलन प्रस्तुत किया—निर्ग्रन्थ-प्रवचन!

निर्ग्रन्थ—मन की, धन की गाँठ से मुक्त, बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थियों से मुक्त हुए वीतराग निस्पृह पुरुष की वाणी-संकलन---बस यही है निर्ग्रन्थ-प्रवचन। निर्ग्रन्थ की वाणी सुनने से, पढ़ने से, मनन करने से—निर्ग्रन्थता आती है, व्यक्ति अपने बन्धनों से स्वयं ही मुक्त होता है और परमशान्ति का अनुभव करता है।

आज के सन्दर्भ में 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' की उपयोगिता क्या है, कितनी है—यह बताने की आवश्यकता नहीं है। भगवान महावीर की वाणी के छोटे-बड़े अनेकानेक संकलन आ रहे हैं और जन-मानस उनका स्वाध्याय करके लाभ उठा रहा है। किन्तु मैं निश्चय के साथ कह देना चाहता हूँ कि समग्रता एवं समीचीनता की दृष्टि से 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' चालीस वर्ष की यात्रा में सर्वप्रथम रहा है।

परम श्रद्धेय गुरुदेव जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज की दूर-दृष्टि और दीर्घ-परिश्रम का सुफल भारत एवं विदेश के हजारों-हजार जिज्ञासुओं को 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' के रूप में आज भी मिल रहा है और युग-युगों तक मिलता रहेगा। हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, गुजराती, कन्नड़ आदि भाषाओं में इसके संस्करण, अनुवाद इसकी सार्वजनीनता सिद्ध करते हैं।

जैनदिवाकर जन्मशताब्दी के उपलक्ष्य में 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' का यह नया संस्करण अनेक दृष्टियों से सुन्दर और भव्य बन पड़ा है। जिज्ञासु पाठकों के समक्ष यह अमृतकलश उद्घाटितकर रख दिया गया है, अब वे अपनी पूरी क्षमता के साथ अमृत पान कर जागतिक त्रय तापों से मुक्ति पाने का प्रयत्न करें।

इत्यलम्

—केवलमुनि

निर्ग्रन्थ-प्रवचन : महत्व और फलश्रुति

किंपाक फल बाहरी रंग-रूप से चाहे जितना सुन्दर और मनमोहक दिखलाई पड़ता हो परन्तु उसका सेवन परिणाम में दारुण दुःखों का कारण होता है। संसार-सुखों की भी यही दशा है। संसार के भोगोपभोग, आमोद-प्रमोद, हमारे मन को हरण कर लेते हैं; जो अहंभावी हैं, बहिरात्मा हैं, उन्हें यह सब सांसारिक पदार्थ मूढ़ बना देते हैं। कंचन और कामिनी की माया उसके दोनों नेत्रों पर अज्ञान का ऐसा पर्दा डाल देती है कि उसे इनके अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं। यह माया मनुष्य के मन पर मदिरा का सा किन्तु मदिरा की अपेक्षा अधिक स्थायी प्रभाव डालती है। वह बेभान हो जाता है। ऐसी दशा में वह जीवन के लिए मृत्यु का आलिंगन करता है, अमर बनने के लिए जहर का पान करता है, सुखों की प्राप्ति की इच्छा से भयंकर दुःखों के जाल की रचना करता है। मगर उसे जान पड़ता है, मानों वह दुःखों से दूर होता जाता है—यह आत्म-भ्रान्ति है।

अन्त में एक ठोकर लगती है। जिसके लिए खून का पसीना बनाया, वही लक्ष्मी लात मार कर अलग जा खड़ी होती है। जिस संतान के सौभाग्य का अनुभव करके फूले न समाते थे, आज वही संतान हृदय के मर्म स्थान पर हजारों चोटें मारकर न जाने किस ओर चल देती है। वियोग का वज्र ममता के शैल-शिखर को कभी-कभी चूर्ण-विचूर्ण कर डालता है। ऐसे समय में यदि पुण्योदय हुआ तो आँखों का पर्दा दूर हो जाता है और जगत् का वास्तविक स्वरूप एक वीभत्स नाटक की तरह नजर आने लगता है। वह देखता है—आह! कैसी भीषण अवस्था है। संसार के प्राणी मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ रहे हैं, हाथ कुछ आता नहीं। "अर्था न सन्ति न च मुञ्चति मां दुराशा" मिथ्या आकांक्षाएँ पीछा नहीं छोड़ती और आकांक्षाओं के अनुकूल अर्थ की कभी प्राप्ति नहीं होती।

संसार में दुःखों का क्या ठिकाना है ? प्रातःकाल जो राजसिंहासन पर आसीन थे, दोपहर होते ही वे दर-दर के भिखारी देखे जाते हैं। जहाँ अभी रंगरेलियाँ उड़ रही थीं, वहीं क्षणभर में हाय-हाय की चीत्कार हृदय को चीर डालती है। ठीक ही कहा है---

"काहू घर पुत्र जायो, काहू के वियोग आयो,
काहू राग-रंग काहू रोआ-रोई परी है।"

गर्भवास की विकट वेदना, व्याधियों की धमा-चौकड़ी, जरा-मरण की व्यथाएँ, नरक और तिर्यञ्च गति के अपरम्पार दुख ! सारा संसार मानों एक विशाल भट्टी है और प्रत्येक संसारी जीव उसमें कोयले की नांई जल रहा है !!

वास्तव में संसार का यही सच्चा स्वरूप है। मनुष्य जब अपने आन्तरिक नेत्रों से संसार को इस अवस्था में देख पाता है तो उसके अन्तःकरण में एक अपूर्व संकल्प जागृत होता है। वह इन दुःखों की परम्परा से छुटकारा पाने का उपाय खोजता है। इन दारुण आपदाओं से मुक्त होने की उसकी आन्तरिक भावना जागृत हो उठती है। जीव की इसी अवस्था को 'निर्वेद' कहते हैं। जब संसार से जीव विरक्त या विमुख बन जाता है तो वह संसार से परे—किसी और लोक की कामना करता है—मोक्ष चाहता है।

मुक्ति की कामना के वशीभूत हुआ मनुष्य किसी 'गुरु' का अन्वेषण करता है। गुरुजी के चरण-शरण होकर वह उन्हें आत्म-समर्पण कर देता है। अबोध बालक की भाँति उनकी अंगुलियों के इशारे पर नाचता है। भाग्य से यदि सच्चे गुरु मिल गए तब तो ठीक, नहीं तो एक बार भट्टी से निकल कर फिर उसी भट्टी में जा पड़ता है।

तब उपाय क्या है ? वे कौन से गुरु हैं जो आत्मा का संसार से निस्तार कर सकने में सक्षम हैं ? यह प्रश्न प्रत्येक आत्महितैषी के समक्ष उपस्थित रहता है। यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन इस प्रश्न का संतोषजनक समाधान करता है और ऐसे तारक गुरुओं की स्पष्ट व्याख्या हमारे सामने उपस्थित कर देता है।

संसार में जो मतमतान्तर उत्पन्न होते हैं, उनके मूल कारणों का यदि अन्वेषण किया जाय तो मालूम होगा कि कषाय और अज्ञान ही इनके मुख्य बीज हैं। शिव राजर्षि को अवधिज्ञान, जो कि अपूर्ण होता है, हुआ। उन्हें

साधारण मनुष्यों की अपेक्षा कुछ अधिक बोध होने लगा। वे मध्यलोक के असंख्यात द्वीप समुद्रों में से सात द्वीप-समुद्र ही जान पाये। लेकिन उन्हें ऐसा भास होने लगा मानों वे सम्पूर्ण ज्ञान के धनी हो गये हैं और अब कुछ भी जानना शेष नहीं रहा। बस, उन्होंने यह घोषणा कर दी कि सात ही द्वीप समुद्र हैं—इनसे अधिक नहीं। तात्पर्य यह है कि जब कोई व्यक्ति कुज्ञान या अज्ञान के द्वारा पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को पूर्ण रूप से नहीं जान पाता और साथ ही एक धर्म प्रवर्तक के रूप में होने वाली प्रतिष्ठा के लोभ को संवरण भी नहीं कर पाता तब वह सनातन सत्य मत के विरुद्ध एक नया ही मत जनता के सामने रख देता है और भोली-भाली जनता उस भ्रममूलक मत के जाल में फँस जाती है।

विभिन्न मतों की स्थापना का दूसरा कारण कषायोद्रेक है। किसी व्यक्ति में कभी कषाय की बाढ़ आती है तो वह क्रोध के कारण, मान-बड़ाई के लिए अथवा दूसरों को ठगने के लिए या किसी लोभ के कारण, एक नया ही सम्प्रदाय बना कर खड़ा कर देता है। इस प्रकार अज्ञान और कषाय की करामात के कारण मुमुक्षु जनों को सच्चा मोक्षमार्ग ढूंढ़ निकालना अतीव दुष्कर कार्य हो जाता है। कितने ही लोग इस भूलभुलैया में पड़कर ही अपने पावन मानव-जीवन को यापन कर देते हैं और कई झुंझला कर इस ओर से विमुख हो जाते हैं।

'जिन खोजा तिन पाइयाँ' की नीति के अनुसार जो लोग इस बात को भली-भाँति जान लेते हैं कि सब प्रकार के अज्ञान से शून्य अर्थात् सर्वज्ञ और कषायों को समूल उन्मूलन करने वाले अर्थात् वीतराग की पदवी जिन महानुभावों ने तीव्र तपश्चरण और विशिष्ट अनुष्ठानों द्वारा प्राप्त कर ली है, जिन्होंने कल्याणपथ—मोक्षमार्ग—को स्पष्ट रूप से देख लिया है, जिनकी अपार करुणा के कारण किसी भी प्राणी का अनिष्ट होना संभव नहीं और जो जगत् का पथ-प्रदर्शन करने के लिए अपने इन्द्रवत् स्वर्गीय वैभव को तिनके की तरह त्याग कर अकिञ्चन बने हैं, उनका बताया हुआ—अनुभूत—मोक्षमार्ग कदापि अन्यथा नहीं हो सकता, वह मुक्ति के मंगलमय मार्ग में अवश्य प्रवेश करता है और अन्त में चरम पुरुषार्थ का साधन करके सिद्ध-पदवी का अधिकारी बनता है।

इन्हीं पूर्वोक्त सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, वीतराग और हितोपदेशक महानुभावों को 'निग्गंठ', 'निग्गंथ' या 'निर्ग्रन्थ' कहते हैं। भौतिक या आधिभौतिक परिग्रह की दुर्भेद्य ग्रंथि को जिन्होंने भेद डाला हो, जिनकी आत्मा पर अज्ञान या कषाय की कालिमा लेशमात्र भी नहीं रही हो; इसी कारण जो स्फटिक मणि से भी अधिक स्वच्छ हो गई हो, वे ही 'निर्ग्रन्थ' पद को प्राप्त करते हैं।

प्रत्येक काल में, प्रत्येक देश में और प्रत्येक परिस्थिति में निर्ग्रन्थों का ही उपदेश सफल और हितकारक हो सकता है। यह उपदेश सुमेरु की तरह अटल, हिमालय की तरह संताप-निवारक—शांतिप्रदायक, सूर्य की तरह तेजस्वी और अज्ञानान्धकार का हरण करने वाला, चन्द्रमा की तरह पीयूष-वर्षण करने वाला और आह्लादक, सुरतरु की तरह सकल संकल्पों का पूरक, विद्युत् की तरह प्रकाशमान् और आकाश की भाँति अनादि-अनन्त और असीम है। वह किसी देशविशेष या कालविशेष की सीमाओं में आबद्ध नहीं है। परिस्थितियाँ उसके पथ को प्रतिहत नहीं कर सकतीं। मनुष्य के द्वारा कल्पित कोई भी श्रेणी, वर्ण, जाति-पांति या वर्ग उसे विभक्त नहीं कर सकता। पुरुष हो या स्त्री, पशु हो या पक्षी, सभी श्रेणियों के लिए वह सदृश समान है, सब अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उस उपदेश का अनुसरण कर सकते हैं। संक्षेप में कहें तो यह कह सकते हैं कि निर्ग्रंथों का प्रवचन सार्व है, सार्वजनिक है, सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है और सर्वार्थसाधक है।

निर्ग्रंथों का प्रवचन आध्यात्मिक-विकास के क्रम और उसके साधनों की सम्पूर्ण और सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या हमारे सामने प्रस्तुत करता है। आत्मा क्या है? आत्मा में कौन-कौन सी और कितनी शक्तियाँ हैं? प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाली आत्माओं की विभिन्नता का क्या कारण है? यह विभिन्नता किस प्रकार दूर की जा सकती है? नारकी और देवता, मनुष्य और पशु आदि की आत्माओं में कोई मौलिक विशेषता है या वस्तुतः वे समान-शक्तिशाली हैं? आत्मा की अधमतम अवस्था क्या है? आत्म-विकास की चरम सीमा कहाँ विश्रांत होती है? आत्मा के अतिरिक्त परमात्मा कोई भिन्न है या नहीं? यदि नहीं तो किन उपायों से, किन साधनाओं से आत्मा परमात्मपद पा सकता है? इत्यादि प्रश्नों का सरल, सुस्पष्ट और संतोषप्रद समाधान हमें निर्ग्रंथ-प्रवचन में मिलता है? इसी प्रकार जगत् क्या है? वह अनादि है या सादि? आदि गहन समस्याओं का निराकरण भी हम निर्ग्रंथ-प्रवचन में देख पाते हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं कि निर्ग्रंथों का प्रवचन किसी भी प्रकार की सीमाओं से आबद्ध नहीं है। यही कारण है कि वह ऐसी व्यापक विधियों का विधान करता है जो आध्यात्मिक दृष्टि से तो अत्युत्तम हैं ही; साथ ही उन विधानों में से इहलौकिक—सामाजिक सुव्यवस्था के लिए सर्वोत्तम व्यवहारोपयोगी नियम भी निकलते हैं। संयम, त्याग, निष्परिग्रहता (और श्रावकों के लिए परिग्रहपरिमाण) अनेकान्तवाद और कर्मादानों की त्याज्यता प्रभृति ऐसी ही कुछ विधियाँ हैं, जिनके न अपनाने के कारण आज समाज में भीषण विशृङ्खलता दृष्टिगोचर हो रही है। निर्ग्रन्थों ने जिस मूल आशय से इन बातों का विधान किया है उस आशय को सन्मुख रखकर यदि सामाजिक विधानों की रचना की जाये तो समाज फिर हरा-भरा, सम्पन्न, सन्तुष्ट और सुखमय बन सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो इन विधानों का महत्व है ही, पर सामाजिक दृष्टि से भी इनका उससे कम महत्व नहीं है। संयम, उस मनोवृत्ति के निरोध करने का अद्वितीय उपाय है जिससे प्रेरित होकर समर्थ जन आमोद-प्रमोद में समाज की सम्पत्ति को स्वाहा करते हैं। त्याग एक प्रकार के बँटवारे का रूपान्तर है। परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोगपरिमाण, एक प्रकार के आर्थिक साम्यवाद का आदर्श हमारे सामने पेश करते हैं; जिनके लिए आज संसार का बहुत सा भाग पागल हो रहा है। विभिन्न नामों के आवरण में छिपा हुआ यह सिद्धान्त ही एक प्रकार का साम्यवाद है। यहाँ पर इस विषय को कुछ अधिक लिखने का अवसर नहीं है—तथापि निर्ग्रन्थ-प्रवचन समाज को एक बड़े और आदर्श कुटुम्ब की कोटि में रखता है, यह स्पष्ट है। इसी प्रकार अनेकान्तवाद, मतमतान्तरों की मारामारी से मुक्त होने का मार्ग निर्देश करता है और निर्ग्रंथों की अहिंसा के विषय में कुछ कहना तो पिष्टपेषण ही है। अस्तु।

निर्ग्रंथ-प्रवचन की तासीर उन्नत बनाना है। नीच से नीच, पतित से पतित, और पापी से पापी भी यदि निर्ग्रन्थ-प्रवचन की शरण में आता है तो उसे भी वह अलौकिक आलोक दिखलाता है, उसे सन्मार्ग दिखलाता है और जैसे धाय माता गन्दे बालक को नहला-धुलाकर साफ-सुथरा कर देती है उसी प्रकार यह मलीन से मलीन आत्मा के मैल को हटाकर उसे शुद्ध-विशुद्ध कर देता है। हिंसा की प्रतिमूर्त्ति, भयंकर हत्यारे अर्जुनमाली का उद्धार करने वाला कौन था? अंजन जैसे चोरों को किसने तारा है? लोक जिसकी परछाईं

से भी घृणा करता है ऐसे चाण्डाल जातीय हरिकेशी को परमादरणीय और पूज्य पद पर प्रतिष्ठित करने वाला कौन है ? प्रभव जैसे भयंकर चोर की आत्मा का निस्तार करके उसे भगवान महावीर का उत्तराधिकारी बनाने का सामर्थ्य किसमें था ? इन सब प्रश्नों का उत्तर एक ही है और पाठक उसे समझ गए हैं। वास्तव में निर्ग्रन्थ-प्रवचन पतित-पावन है, अशरण-शरण है, अनाथों का नाथ है, दीनों का बन्धु है और नारकियों को भी देव बनाने वाला है। वह स्पष्ट कहता है—

अपवित्रः पवित्रो वा, दुस्थितो सुस्थितोऽपि वा।
यः स्मरेत्परमात्मानम्, स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः॥

जिन मुमुक्षु महर्षियों ने आत्म-हित के पथ का अन्वेषण किया है उन्हें निर्ग्रन्थ-प्रवचन की प्रशांत छाया का ही अन्त में आश्रय लेना पड़ा है। ऐसे ही महर्षियों ने निर्ग्रन्थ-प्रवचन की यथार्थता, हितकरता और शान्ति-संतोषप्रदायकता का गहरा अनुभव करने के बाद जो उद्‌गार निकाले हैं वे वास्तव में उचित ही हैं और यदि हम चाहें तो उनके अनुभवों का लाभ उठाकर अपना पथ प्रशस्त बना सकते हैं।

★

निर्ग्रन्थ-प्रवचन : एक परिचय

जिन-देशना— आर्यावर्त्त अज्ञात अतीत काल से ऐसे महापुरुषों को उत्पन्न करता रहा है, जिन्होंने इस आधि-व्याधि-उपाधि के जाल में जकड़े हुए मानव-समूह को सत्पथ प्रदर्शित किया है। दीर्घ तपस्वी श्रमण भगवान महावीर ऐसे ही महान् आत्माओं में से एक थे।

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व, जब भारतवर्ष अपनी पुरातन आध्यात्मिकता के मार्ग से विमुख हो गया था, बाह्य कर्मकाण्ड की उपासना के भार से लद रहा था और प्रेम, दया, सहानुभूति, समभाव, क्षमा आदि सात्त्विक वृत्तियाँ जब जीवन में से किनारा काट रही थीं, तब भगवान् महावीर ने आगे आकर भारतीय जीवन में एक नई क्रान्ति की थी। भगवान् महावीर ने कोरे उपदेशों से यह क्रान्ति की हो, सो बात नहीं है। उपदेश-मात्र से कभी कोई महान् क्रान्ति होती भी नहीं है।

भगवान महावीर राजपुत्र थे। उन्हें संसार में प्राप्त हो सकने वाली सुख-सामग्री सब प्राप्त थी। मगर उन्होंने विश्व के उद्धार के हेतु समस्त भोगोपभोगों को तिनके की तरह त्याग कर अरण्य की शरण ग्रहण की। तीव्र तपश्चरण के पश्चात् उन्हें जो दिव्य ज्योति मिली उसमें चराचर विश्व अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिभासित होने लगा। तब उन्होंने इस भूले-भटके संसार को कल्याण का प्रशस्त मार्ग प्रदर्शित किया। भगवान महावीर के जीवन से हमें इस महत्वपूर्ण बात का पता चलता है कि उन्होंने अपने उपदेश में जो कुछ प्रतिपादन किया है वह दीर्घ अनुभव और अभ्रान्त ज्ञान की कसौटी पर कस कर, खूब जाँच-पड़ताल कर कहा है। अतएव उनके उपदेशों में स्पष्टता है, असंदिग्धता है, वास्तविकता है।

देशना की सार्वजनिकता---श्रमण-संस्कृति सदा से मनुष्य जाति की एकरूपता पर जोर देती आ रही है। उसकी दृष्टि में मानव समाज को टुकड़ों में विभक्त कर डालना, किसी भी प्रकार के कृत्रिम साधनों से उसमें भेदभाव की सृष्टि करना, न केवल अवास्तविक है वरन् मानव समाज के विकास के लिए भी अतीव हानिकारक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का भेद हम अपनी सामाजिक सुविधाओं के लिए करें, यह एक बात है और उनमें प्रकृति भेद की कल्पना करके उनकी आध्यात्मिकता पर उसका प्रभाव डालना दूसरी बात है। इसे श्रमण-संस्कृति मंजूर नहीं करती। यही कारण है कि भगवान महावीर के उपदेश नीच-ऊँच, ब्राह्मण-अब्राह्मण, सब के लिए समान हैं। उनका उपदेश श्रवण करने के लिए सभी श्रेणियों के मनुष्य बिना किसी भेदभाव के उनकी सेवा में उपस्थित होते थे और अस्पृश्य समझे जाने वाले चाण्डालों को भी महावीर के शासन में वह गौरवपूर्ण पद-प्राप्त हो सकता था जो किसी ब्राह्मण को। जैन-शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण अब भी मौजूद हैं जिनसे हमारे कथन की अक्षरशः पुष्टि होती है।

भगवान महावीर का अनुयायीवर्ग आज संसर्ग दोष से अपने आराध्यदेव की इस मौलिक कल्पना को भूल-सा रहा है, पर युग उसे जगा रहा है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम भगवान का दिव्य संदेश प्राणी मात्र के कानों तक पहुँचावें।

सार्वकालिकता भगवान् सर्वज्ञ थे। उनके उपदेश देशकाल आदि की सीमाओं से घिरे हुए नहीं हैं। वे सर्वकालीन हैं, सार्वदेशिक हैं, सार्व हैं। संसार ने जितने अंशों में उन्हें भुलाने का प्रयास किया उतने ही अंशों में उसे प्रकृतिप्रदत्त प्रायश्चित्त करना पड़ा है। अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं— हम देख सकते हैं कि आज के युग में जो विकट समस्याएँ हमारे सामने उपस्थित हैं, हम जिस भौतिकता के विध्वंसमार्ग पर चले जा रहे हैं, उनके प्रति विद्वानों को असंतोष पैदा हो रहा है। आखिर वे फिर जमाने को महावीर के युग में मोड़ ले जाना चाहते हैं। सारा संसार रक्तपात से भयभीत होकर अहिंसादेवी के प्रसादमय अंक में विश्राम लेने को उत्सुक हो रहा है। जीवन को संयमशील और आडम्बरहीन बनाने की फिक्र कर रहा है। नीच-ऊँच की काल्पनिक दीवारों को तोड़ने के लिए उतारू हो गया है। यही महावीर-प्रदर्शित मार्ग है, जिस पर चले बिना मानव समूह का कल्याण नहीं।

महावीर के मार्ग से विमुख होकर संसार ने बहुत कुछ खोया है। पर यह प्रसन्नता की बात है कि वह फिर उसी मार्ग पर चलने की तैयारी में है। ऐसी अवस्था में हमें यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि इस मार्ग के पथिकों के सुभीते के लिए उनके हाथ में एक ऐसा प्रदीप दे दिया जाय जिससे वे अभ्रान्ति पूर्वक अपने लक्ष्य पर आ पहुँचें। बस, वही प्रदीप यह 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भगवान महावीर के इस समय उपलब्ध विशाल वाङ्मय से इसका चुनाव किया गया है, पर संक्षिप्तता की ओर भी इसमें पर्याप्त ध्यान रखा है।

अध्यात्म-प्रधानता—यह ठीक है कि भगवान महावीर ने आध्यात्मिकता में ही जगत्-कल्याण को देखा है और उनके उपदेशों को पढ़ने से स्पष्ट ही ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उनमें कूट-कूट कर आध्यात्मिकता भरी हुई है। उनके उपदेशों का एक-एक शब्द हमारे कानों में आध्यात्मिकता की भावना उत्पन्न करता है। संसार के भोगोपभोगों को वहाँ कोई स्थान प्राप्त नहीं है। आत्मा एक स्वतंत्र ही वस्तु है और इसीलिए उसके वास्तविक सुख और संवेदन आदि धर्म भी स्वतंत्र हैं—परानपेक्ष हैं। अतएव जो सुख किसी बाह्य वस्तु पर अवलम्बित नहीं है, जिस ज्ञान के लिए पौद्गलिक इन्द्रिय आदि साधनों की आवश्यकता नहीं है, वही आत्मा का सच्चा सुख है, वही सच्चा-स्वाभाविक ज्ञान है। वह सुख-संवेदन, किस प्रकार, किन-किन उपायों से, किसे और कब प्राप्त हो सकता है? यही भगवान महावीर के वाङ्मय का मुख्य प्रतिपाद्य है। अतएव इनकी व्याख्या करने में हमारे जीवन के सभी-क्षेत्रों की व्याख्या हो जाती है और उनके आधार पर नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, आदि समस्त विषयों पर प्रकाश पड़ता है। इसे स्पष्ट करके उदाहरणपूर्वक समझाने के लिए विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है, और हमें यहाँ प्रस्तावना की सीमा से आगे नहीं बढ़ना है। पाठक 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' में यत्र-तत्र इन विषयों की साधारण झलक भी देख सकेंगे।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन : विषय-दिग्दर्शन—'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' अठारह अध्यायों में समाप्त हुआ है। इन अध्यायों में विभिन्न विषयों पर मनोहर, आन्तराह्लादजनक और शान्ति-प्रदायिनी सूक्तियाँ संगृहीत हैं। सुगमता से समझने के लिए यहाँ इन अध्यायों में वर्णित वस्तु का सामान्य परिचय करा देना आवश्यक है, और वह इस प्रकार है :—

(१) समस्त आस्तिक दर्शनों की नींव आत्मा पर अवलम्बित है। संसार रूपी इस अद्भुत नाटक का प्रधान अभिनेता आत्मा ही है, जिसकी बदौलत भाँति-भाँति के दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव प्रथम अध्याय में प्रारम्भ में आत्मा सम्बन्धी सूक्तियाँ हैं। आत्मा अजर-अमर है, रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित होने के कारण वह अमूर्त्त है—इन्द्रियों द्वारा उसका बोध नहीं हो सकता। मगर वह मूर्त कर्मों से बद्ध होने के कारण मूर्त्त-सा हो रहा है। आत्मा के सुख-दुःख आत्मा पर ही आश्रित हैं। आत्मा स्वयं ही अपने दुःख-सुखों की सृष्टि करता है। वही स्वयं अपना मित्र है और स्वयं शत्रु है। आत्मा जब दुरात्मा बन जाता है तो वह प्राणघाती शत्रु से भी भयंकर होता है। अतएव संसार में यदि कोई सर्वोत्कृष्ट विजय है तो वह है—अपने आप पर विजय प्राप्त करना। जो अपने आप पर विजय नहीं पाता किन्तु संग्राम में लाखों मनुष्यों को जीत लेता है उसकी विजय का कोई मूल्य नहीं। आत्मा का स्वरूप ज्ञान-दर्शनमय है। ज्ञान से जगत् के द्रव्यों को उनके वास्तविक रूप में देखना-जानना चाहिए। अतएव आत्मा के विवेचन के बाद नव तत्त्वों और द्रव्यों का परिचय कराया गया है।

(२) जगत् के इस अभिनय में दूसरा भाग कर्मों का है। कर्मों के चक्कर में पड़कर ही आत्मा संसार-परिभ्रमण करता है। कर्म आठ हैं —(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय। कर्मों के कितने भेद हैं, कितने समय तक एक बार बँधे हुए कर्म का आत्मा के साथ सम्पर्क रहता है, यह इस अध्ययन में स्पष्ट किया गया है। कर्मों का करना हमारे अधीन है पर भोगना हमारे हाथ की बात नहीं। जो कर्म किए हैं, उन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। बन्धु-बान्धव, मित्र, पुत्र, कलत्र आदि कोई इसमें हाथ नहीं बँटा सकता। मोहनीय कर्म इन सब का सरदार है। यह कर्मसैन्य का सेनापति है। जिसने इसे परास्त किया उसे अनन्त आत्मिक-साम्राज्य प्राप्त हो गया। राग और द्वेष ही दुःख के मूल हैं। अतएव मुमुक्षु जीवों को सर्वप्रथम मोहनीय कर्म से ही मोर्चा लेना चाहिए।

(३) मनुष्यभव बड़ी कठिनाई से मिलता है। यदि वह मिल भी जाय तो फिर सद्धर्म की प्राप्ति आदि अनुकूल निमित्तों का पा सकना और भी मुश्किल है। जिसे यह दुर्लभ निमित्त मिले हैं उन्हें प्रमाद न कर धर्माराधन करना

चाहिए। कौन जाने कल क्या हो जायगा, अतः वृद्धावस्था आने से पूर्व, व्याधि होने से पहले और इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने से प्रथम ही धर्म का आचरण कर लेना उचित है। जो समय चला गया, वह वापस लौटकर आने वाला नहीं। धर्मात्मा का समय ही सफल होता है। धर्म वही सत्य समझना चाहिए जिसका वीतराग मुनियों ने प्रतिपादन किया है। धर्म ध्रुव है, नित्य है।

(४) आत्मा विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करता है। नरक गति में उसे महान् क्लेश भोगने पड़ते हैं। तिर्यंच गति के दुःख प्रत्यक्ष ही हैं। मनुष्य गति में भी विश्रान्ति नहीं—इसमें व्याधि, जरा, मरण आदि की प्रचुर वेदनाएँ विद्यमान हैं। देव गति भी अल्पकालीन है। इन समस्त दुःखों का अन्त वे ही पुण्य-पुरुष कर सकते हैं जो धर्माराधना करके सिद्धि प्राप्त करते हैं। सिद्धि प्राप्त करने के लिए कृत-पापों का प्रायश्चित्त करना चाहिए। तपस्या, निर्लोभता, परीषह-सहिष्णुता, ऋजुता, धैर्य, संवेग, निष्कामता, आदि सात्त्विक गुणों की वृद्धि करनी चाहिए। प्राणातिपात, असत्य, अदत्तादान, मैथुन, मूर्च्छा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, पर-परिवाद आदि-आदि पापों का परित्याग करना चाहिए। असदाचरण से मुक्त और सदाचरण में प्रवृत्त होने से मनुष्य का कर्म-लेप हट जाता है और वह ऊर्ध्व गति करके लोक के अग्रभाग में स्थित हो जाता है। उठना, बैठना, सोना आदि प्रत्येक क्रिया विवेक के साथ करनी चाहिए। इसी प्रकरण में लोक-प्रचलित बाह्य क्रियाकाण्ड के विषय में भगवान कहते हैं—

तपस्या को अग्नि बनाओ, आत्मा को अग्नि-स्थान बनाओ, योग को कड़छी करो, शरीर को ईंधन बनाओ, संयम-व्यापार रूप शान्ति-पाठ करो, तब प्रशस्त होम होता है।

हम सदा स्नान करते हैं, परन्तु वह हमारे अन्तःकरण को निर्मल नहीं बनाता। बाह्य-शुद्धि से आन्तर-शुद्धि नहीं हो सकती। भगवान कहते हैं—

आत्मा में प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले, शान्ति-तीर्थ धर्मरूपी सरोवर में जो स्नान करता है वही निर्मल, विशुद्ध और ताप-हीन होता है।

(५) ज्ञान पाँच प्रकार का है—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधि-ज्ञान, (४) मनःपर्यवज्ञान और (५) केवलज्ञान। अनुष्ठान करने से पहले सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है—जिसे तत्त्व-ज्ञान नहीं वह श्रेय-अश्रेय को क्या

समझेगा ? श्रुत से ही पाप-पुण्य का—भले-बुरे का बोध होता है। जैसे ससूत्र (डोरा सहित) सुई गिर जाने के बाद फिर मिल जाती है उसी प्रकार ससूत्र (श्रुतज्ञानयुक्त) जीव संसार में भी कष्ट नहीं पाता। अज्ञानी जीव दुःखों के पात्र होते हैं। वे मूढ़ पुरुष अनन्त संसार में भटकते फिरते हैं। मगर बिना चारित्र के भी निस्तार नहीं। अनुष्ठान को जानने मात्र से दुःख का अन्त सम्भव नहीं है। जो कर्त्तव्यपरायण नहीं वे वाचनिक शक्ति से अपनी आत्मा को आश्वासन मात्र दे सकते हैं। पण्डितम्मन्य बालजीव विविध विद्याओं का स्वामी बन जाय, विद्यानुशासन सीख ले, पर इससे उसका त्राण नहीं हो सकता। ज्ञान प्राप्त कर लिया किन्तु शरीर या इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति दूर न हुई तो दुःख ही होता है। अतएव सिद्धि सम्पादन करने के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र दोनों ही अनिवार्य हैं। मनुष्य को निर्ममत्व, निरहंकार, अपरिग्रही, समता का स्वामी, समस्त प्राणियों पर समभावी बनना चाहिए। लाभालाभ में, सुख-दुःख में, जीवन-मरण में, निन्दा-प्रशंसा में, मानापमान में, जो समान रहता है, वही सिद्धि प्राप्त करता है।

(६) वीतराग देव हैं, सर्वथा निष्परिग्रही गुरु हैं, वीतराग द्वारा प्रतिपादित धर्म ही सच्चा है, इस प्रकार की श्रद्धा (व्यवहार) सम्यक्त्व है। परमार्थ का चिन्तन करना, परमार्थदर्शियों की शुश्रूषा करना, मिथ्यादृष्टियों की संगति त्यागना, यह सम्यक्त्वी के लिए अनिवार्य है। मिथ्यावादी-पाखण्डी, उन्मार्गगामी होते हैं। रागादि दोषों को नष्ट करने वाले वीतराग का मार्ग ही उत्तम मार्ग है। ऐसी श्रद्धा सम्यग्दृष्टि में होनी चाहिए। सम्यक्त्व अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व के बिना सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। सम्यक्त्व होते ही ज्ञान-चारित्र सम्यक् हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि को शंका, आकांक्षा आदि दोषों से रहित होना चाहिए। मिथ्यादृष्टियों को आगामी भव में भी बोधि की प्राप्ति दुर्लभ होती है—सम्यग्दृष्टियों को सुलभ होती है। सम्यग्बोधि का लाभ करने के लिए जिन-वचनों में अनुराग करना चाहिए, ऊपर बताए हुए दोषों से दूर रहना चाहिए।

(७) पाँच महाव्रत, कर्म का नाश करने वाले हैं। पन्द्रह कर्मादानों[1] का

---

१ कर्मादानों का विवरण सामाजिक साम्यवाद की दृष्टि से भी पढ़िए। समाज की सुलगती हुई समस्याओं का यह पुराना समाधान है।

परित्याग करना चाहिए। दर्शन, व्रत, आदि पडिमाएँ पालनीय हैं। प्राणी-मात्र पर क्षमा-भाव रखना और अपने अपराधों की उनसे क्षमा-प्रार्थना करना आवश्यक है। इस प्रकार का आचार-परायण गृहस्थ भी देवगति प्राप्त करता है। छाल और चर्म के वस्त्र धारण करने वाला, नग्न रहने वाला, मूंड मुंड़ाने वाला, अर्थात् किसी भी वेष को धारण करने से ही कोई गुरु नहीं बन सकता और न उससे त्राण हो सकता है। सूर्यास्त के बाद और सूर्योदय के पहले, भोजन आदि की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। असली ब्राह्मण कौन है? इसका उत्तर इस अध्याय में (देखो गाथा १५ से) बड़ी सुन्दरता से दिया है। यह प्रकरण अन्ध-श्रद्धालुओं की आँखें खोलने के लिए बहुत उपयोगी है।

(८) इस अध्याय में विषयों की विषमता का विवेचन है। ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्रियों एवं नपुंसकों के समीप नहीं रहना चाहिए। स्त्रियों सम्बन्धी बातचीत, स्त्रियों की चेष्टाओं को देखना, परिमाण से अधिक भोजन करना, शरीर को सिंगारना आदि बातें विष के समान हैं। बिल्लियों के बीच जैसे चूहा कुशल नहीं रह सकता उसी प्रकार स्त्रियों के बीच ब्रह्मचारी भी नहीं रह सकता। और की तो बात ही क्या, जिसके हाथ-पैर कटे हुए हों, नाक-कान बेडौल हों, ऐसी सौ वर्ष की बुढ़िया का सम्पर्क भी नहीं रखना चाहिए। जैसे मक्खी कफ में फँस जाती है उसी प्रकार विषयी जीव भोगों में फँसता है। परन्तु यह विषय शल्य के समान हैं, दृष्टिविष साँप के समान हैं। ये अल्पकाल सुख देकर अत्यन्त दुःखदाई हैं, अनर्थों की खान हैं। बड़ी कठिनाई से धीर-वीर पुरुष इनसे अपना पिण्ड छुड़ा पाते हैं। इस प्रकार इस अध्याय में ब्रह्मचर्य सम्बन्धी और भी अनेक मार्मिक और प्रभावशाली वर्णन ब्रह्मचारी के पढ़ने योग्य हैं।

(९) इस अध्याय में भी विशिष्ट चारित्र का वर्णन है। सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, अतः किसी की हिंसा करना घोर पाप है। असत्य भाषण से विश्वासपात्रता नष्ट हो जाती है। बिना आज्ञा लिए छोटी से छोटी वस्तु भी नहीं लेनी चाहिए। मैथुन अधर्म का मूल है, अनेक दोषों का जनक है, अतः निर्ग्रंथों को इससे सर्वथा बचना चाहिए। लोभ-मूर्च्छा का त्याग करना चाहिए। यदि साधु खाद्य सामग्री को रात्रि में रख लेता है तो वह साधुत्व से पतित होकर गृहस्थ की कोटि में आ जाता है। साधु यद्यपि निर्ममत्वभाव से वस्त्र-पात्र आदि रखते हैं फिर भी वह परिग्रह नहीं है, क्योंकि उसमें मूर्च्छा

नहीं है। ज्ञातपुत्र ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है। पृथ्वीकाय आदि का आरम्भ साधु को सर्वथा ही न करना चाहिए। सच्चा साधु, आदर-सत्कार से अपना गौरव नहीं समझता और अनादर से क्रुद्ध नहीं होता। वह समभावी होता है। जाति, कुल, ज्ञान या चारित्र का उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। उच्च जाति या उच्च कुल से ही त्राण नहीं होता, यह बात साधु सदा ध्यान में रखते हैं। वह अपनी प्रशंसा की अभिलाषा नहीं करता। किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं करता, निर्भय और निष्कषाय होकर विचरता है।

(१०) जल्दी क्या है ? आज नहीं कल कर डालेंगे, ऐसा विचार करने वाले, प्रमादी जीवों की आँखें खोलने के लिए यह अध्याय बड़े काम की चीज है। भगवान, गौतम स्वामी को सम्बोधन करके, बड़े ही मार्मिक शब्दों में क्षण मात्र का भी प्रमाद न करने के लिए उपदेश करते हैं—गौतम ! पेड़ पर लगा हुआ पका पत्ता अचानक गिर जाता है, ऐसे ही यह मानव-जीवन अचानक समाप्त हो जाता है, इसलिए पलभर भी प्रमाद न कर। कुश की नोंक पर लटकता हुआ ओस का बूंद ज्यादा नहीं ठहरता, इसी प्रकार यह मानव-जीवन चिरस्थायी नहीं है, अतः पलभर प्रमाद न कर। गौतम ! जीवन अल्पकालीन है और वह भी नाना विघ्नों से परिपूर्ण है। इसलिए पूर्वकृत रज-कर्मों को धो डालने में पलभर भी विलम्ब न कर। मानव-जीवन, बहुत लम्बे समय में, बड़ी ही कठिनाई से प्राप्त होता है। अतः एक भी पल का प्रमाद न कर। पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय में गया हुआ जीव असंख्यात काल तक और वनस्पतिकायगत जीव अनन्त काल तक वहाँ रह सकता है, इसलिए तू प्रमाद न कर। द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव इस अवस्था में उत्कृष्ट असंख्य काल रह जाता है, इसलिए प्रमाद न कर। पंचेन्द्रिय अवस्था में लगातार सात-आठ भव रह सकता है, अतः प्रमाद न कर। इसी प्रकार देव और नरक गति में भी पर्याप्त समय रह जाता है। जब इन समस्त पर्यायों से बचकर किसी प्रकार असीम पुण्योदय से मनुष्य भव मिल जाय तो आर्यत्व की प्राप्ति होना दुर्लभ है, क्योंकि बहुत से मनुष्य, अनार्य भी होते हैं। फिर पूर्ण पंचेन्द्रियाँ, उत्तम धर्म की श्रुति, श्रद्धा, धर्म की स्पर्शना, आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। शरीर जीर्ण होता जा रहा है, बाल सफेद हो रहे हैं, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होती जाती है, अतः पलभर भी प्रमाद न कर। चित्त का उद्वेग, विशूचिका, विविध प्रकार के आकस्मिक उत्पात आदि जीवन

को घेरे हुए हैं, शरीर समय-समय नष्ट हो रहा है, अत: गौतम ! प्रमाद न कर। गौतम ! जल में कमल की नाईं निर्लेप बन जा, स्नेह-वृत्ति को छोड़। धन-धान्य, स्त्री-पुत्र आदि का परित्याग करके तू ने अनगारिता धारण की है, उनकी पुन: कामना न करना। इस प्रकार का प्रभावशाली वर्णन पढ़कर कौन क्षणभर के लिए भी विरक्त न हो जायगा। यह सम्पूर्ण अध्याय नित्य प्रात:काल पठन करने की चीज है।

(११) इस अध्याय में भाषण के नियम प्रतिपादन किये गए हैं—(१) सत्य होने पर भी जो बोलने के अयोग्य हो, (२) जिसमें कुछ भाग सत्य और कुछ असत्य हो—ऐसी मिश्र भाषा, (३) जो सर्वथा असत्य हो, ऐसी तीन प्रकार की भाषा बुद्धिमानों को नहीं बोलनी चाहिए। व्यवहारभाषा, अनवद्यभाषा, कर्कशता तथा संदेहरहित भाषा बोलनी चाहिए। काने को काना कहना आदि दिल दुखाने वाली भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय आदि से भी नहीं बोलना चाहिए। बिना पूछे, दूसरे बोलने वाले के बीच में न बोले, चुगली न करे।

मनुष्य काँटों को सह सकता है पर वाक्-कण्टकों का सहन करना कठिन है, पर उत्तम मनुष्य वही है जो इन्हें सह ले। काँटे थोड़ी देर तक दु:ख देते हैं, पर वाक्कण्टक वैर को बढ़ाने वाले, महान् भय-जनक होते हैं। इनका निकलना कठिन होता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष-परोक्ष में अवर्णवाद करने वाली, भविष्य की निश्चयात्मक, अप्रियकारिणी भाषा भी न बोलनी चाहिए। बुरी प्रवृत्ति का त्याग कर अच्छी प्रवृत्ति में लीन रहना चाहिए। जनपद आदि सम्बन्धिनी भाषा सत्य है। क्रोधादिपूर्वक बोली हुई भाषा असत्य है। यह लोक देवनिर्मित है, ब्रह्म-प्रयुक्त है, ईश्वरकृत है, प्रकृति द्वारा बनाया गया है, स्वयम्भू ने रचा है, अत: अशाश्वत है, ऐसा कहना असत्य है—अर्थात् लोक अनादिनिधन है, किसी का बनाया हुआ नहीं है।

(१२) इस अध्याय में लेश्या-सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। कषाय से अनुरंजित मन, वचन, काय की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। कर्मबन्ध में यह कारण है। इसके छ: भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। कैसे-कैसे परिणाम वाले को कौन-कौनसी लेश्या समझनी चाहिए, इसका अच्छा निरूपण इस अध्याय में है। मुमुक्षु जीवों को इस वर्णन के आधार पर सदा अपने व्यापारों की जाँच करते रहना चाहिए और अप्रशस्त लेश्याओं से बचना चाहिए।

(१३) इस अध्याय में कषाय का वर्णन है। क्रोध आदि चार कषाय पुनर्जन्म की जड़ को हरा-भरा करते हैं। क्रोधी, मानी और मायावी जीव को कहीं शान्ति नहीं मिलती। लोभ पाप का बाप है। कैलाश पर्वत के समान असंख्य पर्वत सोने-चाँदी के खड़े कर दिये जावें तो भी लोभी को संतोष न होगा। क्योंकि तृष्णा आकाश की तरह अनन्त है। तीन लोक की सारी पृथ्वी, धनधान्य, आदि तमाम विभूति यदि एक ही आदमी को प्रदान कर दी जाय तो भी लोभी को वह पर्याप्त न होगी। अतएव कषायों का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। क्रोध, मान, माया और लोभ से संसार में भ्रमण करना पड़ता है। क्रोध प्रीति को, मान विनय को, माया मित्रता को और लोभ सब सद्गुणों को नाश करता है। अतएव क्षमा आदि सद्गुणों से इन्हें दूर करना चाहिए। कौन जाने परलोक है भी या नहीं ? परलोक किसने देखा है ? विषय-सुख प्राप्त हो गया है तो अप्राप्त के लिए प्राप्त को क्यों त्यागा जाय ? ऐसा विचार करने वाले बालजीव अन्त में दुःखों के गड्ढे में गिरते हैं। जैसे सिंह मृग को पकड़ लेता है वैसे ही मृत्यु मनुष्य को धर दबाती है। यह मेरा है, यह तेरा है, यह करना है, यह नहीं करना है, ऐसा विचारते-विचारते ही मौत अचानक आ जाती है और यह जीवन समाप्त हो जाता है।

(१४) जागो, जागो, जागते क्यों नहीं हो ? परलोक में धर्म-प्राप्ति होना कठिन है। क्या बूढ़े, क्या बालक, सभी को काल हर ले जाता है। कुटुम्बीजनों की ममता में फँसे हुए लोगों को संसार में भ्रमण करना पड़ता है। कृतकर्मों से भोगे बिना पिंड नहीं छूटता। जो क्रोधादि पर विजय प्राप्त करते हैं, किसी प्राणी का हनन नहीं करते—वही वीर हैं। गृहस्थी में रहकर भी यदि मनुष्य संयम में प्रवृत्त होता है तो उसे देवगति मिलती है। अतएव बोध को प्राप्त करो। कछुए की भाँति संहृतेन्द्रिय बनो। मन को अपने अधीन करो। भाषा सम्बन्धी दोषों का परित्याग करो। समस्त ज्ञान का सार और सारा विज्ञान अहिंसा में ही समाप्त हो जाता है। अतः ज्ञानीजन हिंसा से सदा बचते हैं। कर्म से कर्म का नाश नहीं होता अकर्म—अहिंसा आदि—से ही कर्मों का क्षय होता है। मेधावी निष्कषाय पुरुष पापों से दूर ही रहते हैं। इन्द्रभूति ! तत्त्वज्ञानी वह है जो क्या बालक और क्या वृद्ध—सभी को आत्मवत् दृष्टि से देखता है और प्रमाद-रहित हो संयम को स्वीकार करता है।

(१५) मन अत्यन्त दुर्जेय है। मन ही बंध और मोक्ष का प्रधान कारण

है। जिस महात्मा ने मन को जीत लिया, समझ लीजिए उसने इन्द्रियों और कषायों को भी जीत लिया। मन, साहसी, भयंकर, दुष्ट अश्व की भाँति चारों तरफ दौड़ता रहता है। इसे धर्म-शिक्षा से अधीन करना चाहिए। संयमी का कर्त्तव्य है कि वह मन को असत्य विषयों से दूर रखे, संरंभ समारंभ में इसकी प्रवृत्ति न होने दे।

पराधीनता के कारण जो लोग वस्त्र, गंध या अलंकार आदि को नहीं भोगते वे त्यागी की परमोच्च पदवी पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकते। बल्कि स्वाधीनता से प्राप्त कान्त और प्रिय भोगों को जो लात मार देता है, वही त्यागी कहलाता है। समभाव से विचरने पर भी यदि चपल मन कदाचित् संयम-मार्ग से बाहर निकल जाय तो धार्मिक भावनाओं से उसे पुनः यथास्थान लाना चाहिए।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह एवं रात्रिभोजन से विरत जीव ही आस्रव से बच सकता है। किसी तालाब में नया पानी प्रवेश न करे और पुराना पानी उलीच कर या सूर्य की धूप से सुखा डाला जाय तो तालाब निर्जल हो जाता है इसी भाँति नवीन कर्मों के आस्रव को रोक देने से तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करने से जीव निष्कर्म हो जाता है। निर्जरा प्रधानतः तपस्या से होती है। तपस्या दो प्रकार की है :—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। इनका विवेचन प्रसिद्ध है। रूप-गृद्ध जीव पतंग की भाँति शब्द-गृद्ध जीव हिरन की तरह, गंध-गृद्ध जीव सर्प की भाँति, रसलोलुप मत्स्य की नाईं, और स्पर्श-सुखाभिलाषी ग्राह-ग्रस्त भैंसे की तरह अकाल-मरण-दुःख को प्राप्त होता है।

(१६) एकान्त में स्त्री के पास नहीं खड़ा होना चाहिए और न उससे बातचीत करनी चाहिए। कभी वस्त्र मिले या न मिले, पर दुःखी नहीं होना चाहिए। यदि कोई निन्दा करे तो मुनि कोप न करे, कोप करने से वह उन्हीं बाल-जीवों जैसा हो जायगा। श्रमण को कोई ताड़ना करे तो विचारना चाहिए कि आत्मा का नाश कदापि नहीं हो सकता। अपने जीवन को समाप्त करने के लिए शस्त्र का उपयोग करना, विष भक्षण करना, जल या अग्नि में प्रवेश करना, जन्म-मरण की—संसार की—वृद्धि करता है।

पाँच कारणों से जीव को शिक्षा नहीं मिलती—क्रोध, मान, आलस्य, रोग और प्रमाद से। आठ गुणों से शिक्षा की प्राप्ति होती है :—हँसोड़ न होना,

संयमी होना, मर्मभेदी वचन न कहना, निष्शील न होना, निर्दोष शीलयुक्त होना, अलोलुपता, क्रोधहीनता, सत्यरति।

मुनि को मंत्र-मंत्र करना, स्वप्न के फल बताना, हाथ की रेखाएँ देखकर शुभ-अशुभ कहना इत्यादि पचड़ों में नहीं पड़ना चाहिए। पापी घोर नरक में पड़ते हैं और आर्य —श्रेष्ठ-धर्मी दिव्य गति प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार इस अध्याय में मुनि-जीवन के योग्य विविध शिक्षाएँ संगृहीत की गई हैं, जिनका उल्लेख विस्तारभय से यहाँ नहीं किया जा सकता।

(१७) ऊपर अनेक स्थलों पर सदाचार का फल देवगति और असदाचार का फल नरकगति कहा गया है। इस अध्याय में इन दोनों गतियों का स्वरूप बताया गया है। नरक गति कहाँ है, उसका स्वरूप क्या है, कौन जीव वहाँ जाते हैं, कैसी-कैसी भीषण वेदनाएँ नारकी जीवों को सहनी पड़ती हैं आदि-आदि बातें जानने के लिए इस अध्याय को अवश्य पढ़ना चाहिए। इसी प्रकार देवगति का भी इसमें सुन्दर वर्णन है और अन्त में कहा गया है कि समुद्र और पानी की एक बूंद में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर देवगति और मनुष्य गति के सुखों में है।

(१८) शिष्य को गुरु के प्रति, पुत्र को पिता के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, तथा मुक्ति क्या है, यही विषय मुख्य रूप से इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है।

विनीत शिष्य वह है जो अपने गुरु की आज्ञा पाले, उनके समीप रहे, उनके इशारों से मनोभावों को ताड़कर वर्ते। गुरुजी कभी शिक्षा दें तो कुपित न हो, शान्ति से स्वीकार करे। अज्ञानियों से संसर्ग न रखे। अपने आसन पर बैठे-बैठे गुरुजी से कोई प्रश्न न पूछे बल्कि सामने आकर, हाथ जोड़कर, विनय के साथ पूछे। गुरुजी कदाचित् नर्म-गर्म बात कहें तो अपना लाभ समझकर उसे स्वीकार करे। इसके विपरीत जो क्रोधी होता है, कलहोत्पादक बातें करता है, शास्त्र पढ़कर अभिमान करता है, मित्रों पर भी कुपित होता है असंबद्ध भाषी एवं घमण्डी होता है, तथा अन्यान्य ऐसे ही दोषों से दूषित होता है वह अविनीत शिष्य कहलाता है। विनीत शिष्य में पन्द्रह गुणों का होना आवश्यक है। (गाथा ९—१२) अनन्तज्ञान प्राप्त करके भी अपने गुरु की सेवा अवश्य करनी चाहिए। कदाचित् आचार्य कुपित हो जाएँ तो उन्हें मना लेना चाहिए।

समस्त दुःखों का अन्त मुक्ति में होता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप, मोक्ष का मार्ग है। इन चारों में से किसी एक की कमी होने से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। मुक्तात्मा जीव समस्त लोकालोक को जानते-देखते हैं। वे पुनः संसार में नहीं आते क्योंकि कर्म सर्वथा नष्ट होने पर पुनः उत्पन्न नहीं होते, जैसे सूखा हुआ पेड़। दग्ध बीज से जैसे अंकुर नहीं होते उसी प्रकार कर्म बीज के जल जाने से भव-अंकुर नहीं उत्पन्न होता। मुक्त जीव लोकाकाश के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। मुक्त जीव अमूर्तिक हैं, अनन्तज्ञान-दर्शनधारी हैं, अनुपम सुख-सम्पन्न होते हैं।

प्रस्तुत संस्करण

निर्ग्रन्थ प्रवचन का मूल भाग प्राकृत—अर्धमागधी भाषा में है। भगवान महावीर ने इसे ही अपने उपदेशों का माध्यम बनाया था। यद्यपि मध्यकाल में प्राकृत भाषा का पठन-पाठन कुछ कम हो गया और संस्कृत भाषा ज्ञान ही विद्वत्ता की कसौटी मान ली गई। प्राकृत जो जनभाषा थी, उसे समझने के लिए भी संस्कृत का सहारा लिया जाने लगा। संस्कृत पंडितों की इस कठिनाई को ध्यान में रखकर यहाँ भी मूल गाथाओं की संस्कृत छाया, साथ में अन्वयार्थ और भावानुवाद दिया गया है जिसे विद्वान और साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी हृदयंगम कर सकता है और प्रतिदिन के स्वाध्याय से आत्मा को जागृत एवं कल्याणमार्गानुगामी बना सकता है।

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१	षट् द्रव्य निरूपण	१
२	कर्म-निरूपण	१२
३	धर्म-स्वरूप वर्णन	३१
४	आत्म-शुद्धि के उपाय	४०
५	ज्ञान-प्रकरण	५५
६	सम्यक्त्व-निरूपण	६४
७	धर्म-निरूपण	७२
८	ब्रह्मचर्य-निरूपण	८७
९	साधु-धर्म-निरूपण	९८
१०	प्रमाद परिहार	१०७
११	भाषा-स्वरूप	१२६
१२	लेश्या-स्वरूप	१३९
१३	कषाय-स्वरूप	१४९
१४	वैराग्य-सम्बोधन	१६५
१५	मनोनिग्रह	१७९
१६	आवश्यक कृत्य	१९१
१७	नरक-स्वर्ग-निरूपण	२०३
१८	मोक्ष-स्वरूप	२२२
	गाथाओं की अकाराद्य अनुक्रमणिका	२३९

॥ णमो सिद्धाणं ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(प्रथम अध्याय)

षट् द्रव्य निरूपण

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा ।
अमुत्तभावा वि अ होइ निच्चो ॥
अज्झत्थहेउं नियतस्स बंधो ।
संसारहेउं च वयंति बंधं ॥१॥

छायाः—नो इन्द्रियग्राह्योऽमूर्तभावात्,
अमूर्तभावादपि च भवति नित्यः ।
अध्यात्महेतुर्नियतस्य बन्धः,
संसारहेतुं च वदन्ति बन्धम् ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! यह आत्मा (अमुत्तभावा) अमूर्त होने से (इंदियग्गेज्झ) इंद्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य (नो) नहीं है । (अ) और (वि) निश्चय ही (अमुत्तभावा) अमूर्त्त होने से आत्मा (निच्चो) हमेशा (होइ) रहती है (अस्स) इसका (बंधो) बंध जो है, वह (अज्झत्थहेउं) आत्मा के आश्रित रहे हुए मिथ्यात्व कषायादि हेतु (च) और (बंध) बंधन को (नियतस्स) निश्चय ही (संसारहेउं) संसार का हेतु (वयंति) कहा है ।

भावार्थः—हे गौतम ! यह आत्मा अमूर्त्ति अर्थात् वर्ण, गंध, रस और स्पर्श-रहित होने से इंद्रियों द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता है। और अरूपी होने से

न कोई इसे पकड़ ही सकता है। जो अमूर्त्त अर्थात् अरूपी है, वह हमेशा अविनाशी है, सदा के लिए कायम रहने वाला है। जो शरीरादि से इसका बंधन होता है, वह प्रवाह से आत्मा में हमेशा से रहे हुए मिथ्यात्व-अव्रत आदिकषायों का ही कारण है। जैसे आकाश अमूर्त्त है, पर घटादि के कारण से आकाश घटाकाश के रूप में दिख पड़ता है। ऐसे ही आत्मा को भी अनादि काल के प्रवाह से मिथ्यात्वादि के कारण शरीर के बंधन-रूप में समझना चाहिए। यही बंधन संसार में परिभ्रमण करने का साधन है।

मूलः—अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणंवणं ॥२॥

छायाः—आत्मानदीवैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली।
आत्मा कामदुघा धेनुः, आत्मा मे नन्दनं वनम् ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इंद्रभूति ! (अप्पा) यह आत्मा ही (वेयरणी) वैतरणी (नई) नदी के समान है। (मे) मेरी (अप्पा) आत्मा (कूडसामली) कूटशाल्मली के वृक्षरूप है। और यही (अप्पा) आत्मा (कामदुहा) कामदुधा रूप (धेणू) गाय है। और यही मेरी (अप्पा) आत्मा (नंदणं) नंदन (वणं) वन के समान है।

भावार्थः—हे गौतम ! यही आत्मा वैतरणी नदी के समान है। अर्थात् इसी आत्मा को अपने कृत् कार्यों से वैतरणी नदी में गोता खाने का मौका मिलता है। वैतरणी नदी का कारणभूत यह आत्मा ही है। इसी तरह यह आत्मा नरक में रहे हुए कूटशाल्मली वृक्ष के द्वारा होने वाले दुःखों का कारणभूत है और यही आत्मा अपने शुभ कृत्यों के द्वारा कामदुग्धा गाय के समान है, अर्थात् इच्छित सुखों की प्राप्ति कराने में यही आत्मा कारणभूत है। और यही आत्मा नंदनवन के समान है अर्थात् स्वर्ग और मुक्ति के सुख सम्पन्न कराने में अपने आप ही स्वाधीन है।

मूलः—अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥३॥

छायाः—आत्मा कर्त्ता विकर्त्ता च, दुःखानां च सुखानां च।
आत्मा मित्रममित्रं च, दुःप्रस्थितः सुप्रस्थितः ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति, (अप्पा) यह आत्मा ही (दुहाण) दुःखों का (य) और (सुहाण) सुखों का (कत्ता) उत्पन्न करने वाला है (य) और (विकत्ता) नाश करने वाला है। (अप्पा) यह आत्मा ही (मित्त) मित्र है (च) और (अमित्तं) शत्रु है। और यही आत्मा (दुप्पट्ठिय) दुराचारी और (सुपट्ठिओ) सदाचारी है।

भावार्थः—हे गौतम ! यही आत्मा दुःखों एवं सुखों के साधनों का कर्त्ता-रूप है और उन्हें नाश करने वाला भी यही आत्मा है। यही शुभ कार्य करने से मित्र के समान है और अशुभ कार्य करने से शत्रु के सदृश हो जाता है सदाचार का सेवन करने वाला और दुष्ट आचार में प्रवृत्त होने वाला भी यही आत्मा है।

मूलः—न तं अरी कंठछेत्ता करेइ।
जं से करे अप्पणिया दुरप्पया॥
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते।
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥४॥

छायाः—न तदरिः कण्ठच्छेत्ता करोति,
यत्तस्य करोत्यात्मीया दुरात्मता।
स ज्ञास्यति मृत्युमुखं तु प्राप्तः,
पश्चादनुतापेन दया विहीनः॥४॥

अन्वयार्थः—हे इंद्रभूति ! (से) वह (अप्पणिया) अपना (दुरप्पया) दुराचरणशील आत्मा ही है जो (जं) उस अनर्थ को (करे) करता है। (तं) जिसे (कंठछेत्ता) कंठ का छेदन करने वाला (अरी) शत्रु भी (न) नहीं (करेइ) करता है (तु) परन्तु (से) वह (दयाविहूणो) दयाहीन दुष्टात्मा (मच्चुमुहं) मृत्यु के मुंह में (पत्ते) प्राप्त होने पर (पच्छाणुतावेण) पश्चाताप करके (नाहिई) अपने आप को जानेगा।

भावार्थः—हे गौतम ! यह दुष्टात्मा जैसे-जैसे अनर्थों को कर बैठता है वैसे अनर्थ एक शत्रु भी नहीं कर सकता है। क्योंकि शत्रु तो एक ही बार

अपने शस्त्र से दूसरों के प्राण हरण करता है परन्तु यह दुष्टात्मा तो ऐसा अनर्थ कर बैठता है कि जिसके द्वारा अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक मृत्यु का सामना करना पड़ता है। फिर दयाहीन उस दुष्टात्मा को मृत्यु के समय पश्चात्ताप करने पर अपने कृत्य कार्यों का भान होता हैं कि अरे हा ! इस आत्मा ने कैसे-कैसे अनर्थ कर डाले हैं।

मूल—अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥५॥

छाया:—आत्मा चैव दमितव्यः आत्मा हि खलु दुर्दमः।
आत्मादान्त सुखी भवति, अस्मिल्लोके परत्र च ॥५॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (अप्पा) आत्मा (चेव) ही (दमेयव्वो) दमन करने योग्य है। (हु) क्योंकि (अप्पा) आत्मा (खलु) निश्चय (दुद्दमो) दमन करने में कठिन है। तभी तो (अप्पा) आत्मा को (दंतो) दमन करता हुआ (अस्सिं) इस (लोए) लोक में (य) और (परत्थ) परलोक में (सुही) सुखी (होइ) होता है।

भावार्थ:—हे गौतम ! क्रोधादि के वशीभूत होकर आत्मा उन्मार्ग-गामी होता है। उसे दमन करके अपने काबू में करना योग्य है। क्योंकि निज आत्मा को दमन करना अर्थात् विषय-वासनाओं से उसे पृथक् करना महान कठिन है और जब तक आत्मा को दमन न किया जाय तब तक उसे सुख नहीं मिलता है। इसलिए हे गौतम ! आत्मा को दमन कर, जिससे इस लोक और परलोक में सुख प्राप्त हो।

मूल:—वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहिं य ॥६॥

छाया:—वरं मे आत्मादान्तः, संयमेन तपसा च।
माऽहं परैर्दमितः, बन्धनैर्वधैश्च ॥६॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! आत्माओं को विचार करना चाहिए कि (मे) मेरे द्वारा (संजमेण) संयम (य) और (तवेण) तपस्या करके (अप्पा) आत्मा

का (दंतो) दमन करना (वरं) प्रधान कर्त्तव्य है। नहीं तो (हं) मैं (परेहिं) दूसरों से (बंधणेहिं) बन्धनों द्वारा (य) और (वहेहिं) ताड़ना द्वारा (दम्मंतो) दमन (मा) कहीं न हो जाऊँ।

भावार्थ—हे गौतम ! प्रत्येक आत्मा को विचार करना चाहिए कि अपने ही आत्मा द्वारा संयम और तप से आत्मा को वश में करना श्रेष्ठ है। अर्थात् स्ववश करके आत्मा को दमन करना श्रेष्ठ है। नहीं तो फिर विषय-वासना सेवन के बाद कहीं ऐसा न हो कि उसके फल उदय होने पर इसी आत्मा को दूसरों के द्वारा बंधन आदि से अथवा लकड़ी, चाबुक, भाला बरछी आदि के घाव सहने पड़ें।

मूलः—जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस सो परमो जओ ॥७॥

छायाः—यः सहस्रं सहस्राणाम्, संग्रामे दुर्जये जयेत्।
एकं जयेदात्मानं, एषस्तस्य परमो जयः ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जो) जो कोई मनुष्य (दुज्जए) जीतने में कठिन ऐसे (संगामे) संग्राम में (सहस्साणं) हजार का (सहस्सं) हजार गुणा अर्थात् दश लक्ष सुभटों को जीत ले उससे भी बलवान (एगं) एक (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (जिणेज्ज) जीते (एस) यह (सो) उसका (जओ) विजय (परमो) उत्कृष्ट है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो मनुष्य युद्ध में दश लक्ष सुभटों को जीत ले उस से भी कहीं अधिक विजय का पात्र वह है जो अपनी आत्मा में स्थित काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और माया आदि विषयों के साथ युद्ध करके और इन सभी को पराजित कर अपनी आत्मा को काबू में कर ले।

मूलः—अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥८॥

छायाः—आत्मानेव युध्यस्व किं ते युद्धेन बाह्यतः।
आत्मानेवात्मानं जित्वा सुखमेधते ॥८॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (अप्पाणमेव) आत्मा के साथ ही (जुज्झाहि) युद्ध कर (ते) तुझे (बज्झओ) बाहरों के साथ (जुज्झेण) युद्ध करने से (किं) क्या पड़ा है ? (अप्पाणमेव) अपने आत्मा ही के द्वारा (अप्पाणं) आत्मा को (जइत्ता) जीतकर (सुहं) सुख को (एहए) प्राप्त करता है।

भावार्थ—हे गौतम अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करके क्रोध, मद, मोहादि पर विजय प्राप्त कर। दूसरों के साथ युद्ध करने से कर्म-बन्ध के सिवाय आत्मिक लाभ कुछ भी नहीं होता है। अतः जो अपनी आत्मा द्वारा अपने ही मन को जीत लेता है उसी को सुख प्राप्त होता है।

मूल:—पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोभं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥९॥

छाया:—पंचेन्द्रियाणि क्रोधं मानं मायां तथैव लोभञ्च।
दुर्जयं चैवात्मानं सर्वमात्मनि जिते जितम् ॥९॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (दुज्जयं) जीतने में कठिन ऐसे (पंचिंदियाणि) पाँचों इन्द्रियों के विषय (कोहं) क्रोध (माणं) मान (मायं) कपट (तहेव) वैसे ही (लोभं) तृष्णा (चेव) और भी मिथ्यात्व अव्रतादि (च) और (अप्पाणं) मन ये (सव्वं) सर्व (अप्पे) आत्मा को (जिए) जीतने पर (जियं) जीते जाते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! जो भी पाँचों इन्द्रियों के विषय और क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मन ये सब के सब दुर्जयी हैं। तथापि अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेने से इन पर अनायास ही विजय प्राप्त की जा सकती है।

मूल:—सरीरमाहु नाव त्ति; जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो; जं तरंति महेसिणो ॥१०॥

छाया:—शरीरमाहुर्नौरिति जीव उच्यते नाविकः।
संसारोऽर्णव उक्तः, यस्तरन्ति महर्षयः ॥१०॥

अन्वयार्थ:— हे इन्द्रभूति ! यह (संसारो) संसार (अण्णवो) समुद्र के समान (वुत्तो) कहा गया है। इस में (सरीरं) शरीर (नाव) नौका के सदृश है। (आहु त्ति) ऐसा ज्ञानी जनों ने कहा है। और उसमें (जीवो) आत्मा

(नाविओ) नाविक के तुल्य बैठ कर तिरनेवाला है। (वुच्चइ) ऐसा कहा गया है। अतः (जं) इस संसार समुद्र को (महेसिणो) ज्ञानी जन (तरंति) तिरते हैं।

भावार्थः—हे गौतम! इस संसार रूप समुद्र के परले पर जाने के लिए यह शरीर नौका के समान है जिस में बैठ कर आत्मा नाविक-रूप हो कर संसार-समुद्र को पार करता है।

मूलः—नाणं च दंसणं चेव; चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य; एयं जीवस्स लक्खणं ॥११॥

छायाः—ज्ञानञ्च दर्शनञ्चैव चारित्रञ्च तपस्तथा।
वीर्यमुपयोगश्च एतज्जीवस्य लक्षणम् ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (नाणं) ज्ञान (च) और (दंसणं) दर्शन (चेव) और (चारित्तं) चारित्र (च) और (तवो) तप (तहा) तथा प्रकार की (वीरियं) सामर्थ्य (य) और (उवओगो) उपयोग (एयं) यही (जीवस्स) आत्मा का (लक्खणं) लक्षण है।

भावार्थः—हे गौतम! ज्ञान, दर्शन, तप, क्रिया और सावधानीपन, उपयोग ये सब जीव (आत्मा) के लक्षण हैं।

मूलः—जीवाऽजीवा य बंधो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव ॥१२॥

छायाः—जीवा अजीवाश्च बन्धश्च पुण्यं पापाश्रवौ तथा।
संवरो निर्जरा मोक्षः सन्त्येते तथ्या नव ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जीवाऽजीवाय) चेतन और जड़ (य) और (बंधो) कर्म (पुण्णं) पुण्य (पावासवो) पाप और आश्रव (तहा) तथा (संवरो) संवर (निज्जरा) निर्जरा (मोक्खो) मोक्ष (एए) ये (नव) नौ पदार्थ (तहिया) तथ्य (संति) कहलाते हैं।

भावार्थः—हे गौतम! **जीव** जिसमें चेतना हो। **जड़** चेतनारहित। **बंध** जीव और कर्म का मिलना। **पुण्य** शुभ कार्यों द्वारा संचित शुभ कर्म। **पाप** दुष्कृत्य-जन्य कर्म बंध। **आश्रव** कर्म आने का द्वार। **संवर** आते हुए कर्मों का रुकना।

निर्जरा एकदेश कर्मों का क्षय होना। **मोक्ष** सम्पूर्ण पाप पुण्यों से छूट जाना। एकान्त सुख के भागी होना मोक्ष है।

मूल:—धम्मो अहम्मो आगासं कालो पोग्गलजंतवो।
एस लोगु त्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥१३॥

छाया:—धर्मोऽधर्म आकाश कालः पुद्गलजन्तवः
एषो लोक इति प्रज्ञप्तो जिनैर्वरदर्शिभिः ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (धम्मो) धर्मास्तिकाय (अहम्मो) अधर्मास्तिकाय (आगासं) आकाशास्तिकाय (कालो) समय (पोग्गलजंतवो) पुद्गल और जीव (एस) ये छः ही द्रव्य वाला (लोगु त्ति) लोक है। ऐसा (वरदंसिहिं) केवल ज्ञानी (जिणेहिं) जिनेश्वरों ने (पण्णत्तो) कहा है।

भावार्थः—हे गौतम ! **धर्मास्तिकाय** जो जीव और जड़ पदार्थों को गमन करने में सहायक हो। **अधर्मास्तिकाय** जीव और अजीव पदार्थों की गति को अवरोध करने में कारणभूत एक द्रव्य है। और आकाश, समय, जड़ और चेतन इन छः द्रव्यों को ज्ञानियों ने लोक कहकर पुकारा है।

मूल:—धम्मो अहम्मो आगासं; दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि य; कालो पुग्गलजंतवो ॥१४॥

छाया:—धर्मोऽधर्म आकाशं द्रव्यं एकैकमाख्यातम्।
अनन्तानि च द्रव्याणि च कालः पुद्गलजन्तवः ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (धम्मो) धर्मास्तिकाय (अहम्मो) अधर्मास्तिकाय (आगासं) आकाशास्तिकाय (दव्वं) इन द्रव्यों को (इक्किक्कं) एक-एक द्रव्य (आहियं) कहा है (य) और (कालो) समय (पुग्गलजंतवो) पुद्गल एवं जीव इन द्रव्यों को (अणंताणि) अनंत कहा है।

भावार्थः—हे शिष्य ! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों एक-एक द्रव्य हैं। जिस प्रकार आकाश के टुकड़े नहीं होते, वह एक अखण्ड द्रव्य है, ऐसे ही धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय भी एक-एक ही अखण्ड द्रव्य हैं और पुद्गल अर्थात्—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वाला एक मूर्त्त द्रव्य तथा जीव और (अतीत व अनागत की अपेक्षा) समय, ये तीनों अनंत द्रव्य माने गये हैं।

मूलः—गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं; नहं ओगाह लक्खणं ॥१५॥

छायाः—गतिलक्षणस्तु धर्मः अधर्मः स्थानलक्षणः ।
भाजनं सर्वद्रव्याणाम् नभोऽवगाहलक्षणम् ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (गइलक्खणो) गमन करने में सहायता देने का लक्षण है जिसका, उसको (धम्मो) **धर्मास्तिकाय** कहते हैं। (ठाणलक्खणो) ठहरने में मदद देने का लक्षण है जिसका, उसको (अहम्मो) **अधर्मास्तिकाय** कहते हैं। और (सव्वदव्वाणं) सर्व द्रव्यों को (भायणं) आश्रय रूप (ओगाहलक्खणं) अवकाश देने का लक्षण है जिसका, उसको (नहं) **आकाशास्तिकाय** कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो जीव और जड़ द्रव्यों को गमन करने में सहाय्यभूत हो उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। और जो ठहरने में सहाय्यभूत हो उसे अधर्मास्तिकाय कहते है। और पाँचों द्रव्यों को जो आधारभूत हो कर अवकाश दे उसे आकाशास्तिकाय कहते हैं।

मूलः—वत्तणालक्खणो कालो; जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेणं दंसणेणं च; सुहेण य दुहेण य ॥१६॥

छायाः—वर्त्तना लक्षणः कालो जीव उपयोगलक्षणः ।
ज्ञानेन दर्शनेन च सुखेन च दुःखेन च ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (वत्तणालक्खणो) वर्तना है लक्षण जिसका उसको (कालो) समय कहते हैं (उवओगलक्खणो) उपयोग लक्षण है जिसका उसको (जीवो) आत्मा कहते हैं। उसकी पहचान (नाणेणं) ज्ञान (च) और (दंसणेणं) दर्शन (य) और (सुहेण) सुख (य) और (दुहेण) दुख के द्वारा होती है।

भावार्थः—हे शिष्य ! जीव और पुद्गल मात्र के पर्याय बदलने में जो सहायक होता है उसे काल कहते हैं। ज्ञानादि का एकांश या विशेषांश जिसमें हो वही **जीवास्तिकाय** है। जिसमें उपयोग अर्थात् ज्ञानादि न सम्पूर्ण ही है और न अंशमात्र भी है, वह जड़ पदार्थ है। क्योंकि जो आत्मा है, वह सुख, दुःख, ज्ञान, दर्शन का अनुभव करता है—इसी से इसे आत्मा कहा गया है और इन कारणों से ही आत्मा की पहचान मानी गई है।

मूलः—सद्दंधयारउज्जोओ, पहा छायाऽऽतवे इ वा ।
वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥१७॥

छायाः—शब्दोऽन्धकार उद्योतःप्रभाच्छायाऽऽतप इति वा ।
वर्णरसगन्धस्पर्शाः पुद्गलानाञ्च लक्षणम् ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सद्दंधयार) शब्द अन्धकार (उज्जोओ) प्रकाश (पहा) प्रभा (छायाऽऽतवेइ) छाया, धूप आदि ये (वा) अथवा (वण्णरसगंधफासा) वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्शादिक को (पुग्गलाणं) पुद्गलों का (लक्खणं) लक्षण कहा है। (तु) पाद पूर्ति ।

भावार्थः—हे गौतम ! शब्द, अन्धकार, रत्नादिक का प्रकाश, चन्द्रादिक की कांति, शीतलता, छाया, धूप आदि ये सब और पांचों वर्णादिक, गन्ध, पांचों रसादिक और आठों स्पर्शादि से पुद्गल जाने जाते है ।

मूलः—गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे ॥१८॥

छायाः—गुणानामाश्रयो द्रव्यं, एकद्रव्याश्रिता गुणाः ।
लक्षणं पर्यवाणां तु उभयोराश्रिता भवन्ति ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (गुणाणं) रूपादि गुणों का (आसओ) आश्रय जो है वह (दव्वं) द्रव्य है। और जो (एगदव्वस्सिया) एक द्रव्य आश्रित रहते आये हैं वे (गुणा) गुण है (तु) और (उभओ) दोनों के (अस्सिया) आश्रित (भवे) हो, वह (पज्जवाणं) पर्यायों का (लक्खणं) लक्षण है ।

भावार्थः—हे गौतम ! रूपादि गुणों का जो आश्रय हो, उसको द्रव्य कहते हैं। और द्रव्य के आश्रित रहने वाले रूप, रस आदि ये सब गुण कहलाते हैं। और द्रव्य तथा गुण इन दोनों के आश्रित जो होता है, अर्थात् द्रव्य के अन्दर तथा गुणों के अन्दर जो पाया जाय वह पर्याय कहलाता है। अर्थात् गुण द्रव्य में ही रहता है किन्तु पर्याय द्रव्य और गुण दोनों में रहती है। यही गुण और पर्याय में अन्तर है ।

मूलः—एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य ।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥१९॥

छाया:—एकत्वञ्च पृथक्त्वञ्च संख्या संस्थानमेव च ।
संयोगाश्च विभागाश्च पर्यवाणां तु लक्षणम् ॥१६॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (पज्जवाणं) पर्यायों का (लक्खणं) लक्षण यह है, कि (एगत्त) एक पदार्थ के ज्ञान का (च) और (पुहत्तं) उससे भिन्न पदार्थ के ज्ञान का (च) और (संखा) संख्या का (य) और (संठाणमेव) आकार-प्रकार का (संजोगा) एक से दो मिले हुओं का (य) और (विभागाय) यह इससे अलग है, ऐसा ज्ञान जो करावे वही पर्याय है ।

भावार्थ:—हे गौतम ! पर्याय उसे कहते हैं, कि यह अमुक पदार्थ है, यह उससे अलग है, यह अमुक संख्या वाला है, इस आकार-प्रकार का है, यह इतने समूह रूप में है, आदि ऐसा जो ज्ञान करादे वही पर्याय है । अर्थात् जैसे यह मिट्टी थी पर अब घट रूप में है । यह घट, उस घट से पृथक् रूप में है । यह घट संख्या बद्ध है । पहले नम्बर का है या दूसरे नम्बर का है । यह गोल आकार का है । यह चौरस आकार का है । यह दो घट का समूह है । यह घट उस घट से भिन्न है । आदि ऐसा ज्ञान जिसके द्वारा हो वही पर्याय है ।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(द्वितीय अध्याय)

कर्म निरूपण

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः—अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्वि जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परियत्तइ ॥१॥

छायाः—अष्ट कर्माणि वक्ष्यामि, आनुपूर्व्या यथाक्रमम् ।
यैर्बद्धोऽयं जीवः संसारे परिवर्त्तते ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अट्ठ) आठ (कम्माइं) कर्मों को (आणुपुव्वि) अनुपूर्वी से (जहक्कमं) क्रमवार (वोच्छामि) कहता हूँ, सो सुनो । क्योंकि (जेहिं) उन्हीं कर्मों से (बद्धो) बँधा हुआ (अयं) यह (जीवो) जीव (संसारे) संसार में (परियत्तइ) परिभ्रमण करता है ।

भावार्थः—हे गौतम ! जिन कर्मों को करके यह आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है, जिनके द्वारा संसार का अन्त नहीं होता है, वे कर्म आठ प्रकार के होते हैं । मैं उन्हें क्रमपूर्वक और उनके स्वरूप के साथ कहता हूँ ।

मूलः—नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥२॥
नामकम्मं च गोयं च, अन्तरायं तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥३॥

छाया:—ज्ञानस्यावरणीयं, दर्शनावरणं तथा ।
वेदनीयं तथा मोहं, आयुः कर्म तथैव च ॥२॥
नामकर्म च गोत्रं च, अन्तरायं तथैव च ।
एवमेतानि कर्माणि, अष्टौ तु समासतः ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (नाणस्सावरणिज्जं) ज्ञानावरणीय (तहा) तथा (दंसणावरणं) दर्शनावरणीय (तहा) तथा (वेयणिज्जं) वेदनीय (मोहं) मोहनीय (तथैव) और (आउकम्मं) आयुष्कर्म (च) और (नामकम्मं) नाम कर्म (च) और (गोयं) गोत्र कर्म (य) और (तहेव) वैसे ही (अन्तरायं) अन्तराय कर्म (एवमेयाइ) इस प्रकार ये (कम्माइं) कर्म (अट्ठेव) आठ ही (समासओ) संक्षेप से ज्ञानी जनों ने कहे हैं । (उ) पादपूर्ति अर्थ में ।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसके द्वारा बुद्धि एवं ज्ञान की न्यूनता हो, अर्थात् ज्ञान वृद्धि में बाधा रूप जो हो उसे ज्ञानावरणीय अर्थात् ज्ञान शक्ति को दबाने वाला कर्म कहते हैं । पदार्थ को साक्षात्कार करने में जो बाधा डाले, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहा गया है । सम्यक्त्व और चारित्र को जो बिगाड़े, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं । जन्म-मरण में जो सहाय्यभूत हो वह आयुष्कर्म माना गया है । जो शरीर आदि के निर्माण का कारण हो वह नामकर्म है । जीव को जो लोकप्रतिष्ठित या लोकनिंद्य कुलों में उत्पन्न करने का कारण हो वह गोत्र-कर्म कहलाता है । जीव की अनन्त शक्ति प्रकट होने में जो बाधक रूप हो वह अन्तराय कर्म कहलाता है । इस प्रकार ये आठों ही कर्म इस जीव को चौरासी के चक्कर में डाल रहे हैं ।

मूलः—नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ॥४॥

छायाः—ज्ञानावरणं पञ्चविधं, श्रुतमाभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञानं च तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इंद्रभूति ! (नाणावरणं) ज्ञानावरणीय कर्म (पंचविहं) पाँच प्रकार का है । (सुयं) श्रुत-ज्ञानावरणीय (आभिणिबोहियं) मतिज्ञानावरणीय (तइयं) तीसरा (ओहिनाणं) अवधिज्ञानावरणीय (च) और (मणनाणं) मनः पर्यव ज्ञानावरणीय (च) और (केवलं) केवल ज्ञानावरणीय ।

भावार्थः—हे गौतम ! अब ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद कहते हैं। सो सुनो—(१) **श्रुतज्ञानावरणीय** कर्म जिसके द्वारा ज्ञान शक्ति आदि में न्यूनता हो। (२) **मतिज्ञानावरणीय** जिसके द्वारा समझने की शक्ति कम हो (३) **अवधिज्ञानावरणीय**—जिसके द्वारा परोक्ष की बातें जानने में न आवें (४) **मनः पर्यवज्ञानावरणीय**—दूसरों के मन की बात जानने में शक्तिहीन होना (५) **केवलज्ञानावरणीय**—संपूर्ण पदार्थों के जानने में असमर्थ होना। ये सब ज्ञानावरणीय कर्म के फल हैं।

हे गौतम ! अब ज्ञानवरणीय कर्म बँधने के कारण बताते हैं, सो सुनो (१) ज्ञानी के द्वारा बताये हुए तत्त्वों को असत्य बताना, तथा उन्हें असत्य सिद्ध करने की चेष्टा करना (२) जिस ज्ञानी के द्वारा ज्ञान-प्राप्त हुआ है उसका नाम तो छिपा देना और मैं स्वयं ज्ञानवान् बना हूँ ऐसा वातावरण फैलाना (३) ज्ञान की असारता दिखलाना कि इस में पड़ा ही क्या है ? आदि कह कर ज्ञान एवं ज्ञानी की अवज्ञा करना (४) ज्ञानी से द्वेष भाव रखते हुए कहना कि वह पढ़ा ही क्या है ? कुछ नहीं। केवल डींगी होकर ज्ञानी होने का दम भरता है, आदि कहना। (५) जो कुछ सीख पढ़ रहा हो उसके काम में बाधा डालने में हर तरह से प्रयत्न करना (६) ज्ञानी के साथ अण्ट सण्ट बोल कर व्यर्थ का झगड़ा करना। आदि-आदि कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है।

मूलः—निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलपयला य।
तत्तो अ थीणगिद्धी उ, पंचमा होइ नायव्वा ॥५॥
चक्खुमचक्खू ओहिस्स, दंसओ केवले अ आवरणे।
एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ॥६॥

छायाः—निद्रा तथैव प्रचला, निद्रानिद्रा च प्रचलाप्रचला च।
ततश्च स्त्यानगृद्धिस्तु, पञ्चमा भवति ज्ञातव्या ॥५॥
चक्षुरचक्षुरवधेः दर्शने केवले चावरणे।
एवं तु नवविकल्पं, ज्ञातव्यं दर्शनावरणम् ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (निद्दा) सुख पूर्वक सोना (तहेव) से ही (पयला) बैठे बैठे ऊँघना (य) और (निद्दानिद्दा) खूब गहरी नींद (य) और (पयल-

पयला) चलते चलते ऊँघना (तत्तो अ) और इसके बाद (पंचमा) पाँचवीं (थाण गिद्धी उ) स्त्यानगृद्धि (होई) है, ऐसा (नायव्वा) जानना चाहिये (चक्खुमचक्खू ओहिस्स) चक्षु, अचक्षु, अवधि के (दंसणे) दर्शन में (य) और (केवले) केवल में (आवरणो) आवरण (एवं तु) इस प्रकार (नवविगप्पं) नौ भेदवाला (दंसणावरणं) दर्शनावरणीय कर्म (नायव्वं) जानना चाहिए।

भावार्थ:—हे गौतम ! अब दर्शनावरणीय कर्म के भेद बतलाते हैं, सो सुनो—(१) अपने आप ही नियत समय पर निद्रा से युक्त होना (२) बैठे-बैठे ऊँघना अर्थात् नींद लेना (३) नियत समय पर भी कठिनता से जागना (४) चलते-फिरते ऊँघना और (५) पाँचवाँ भेद यह है कि सोते-सोते कुछ काम भी कर लेना। ये सब दर्शनावरणीय कर्म के फल हैं। इसके सिवाय चक्षु में दृष्टिमान्द्य या अन्धेपन आदि प्रकार की हीनता का होना तथा सुनने की, सूंघने की, स्वाद लेने की, स्पर्श करने की, शक्ति में हीनता, अवधिदर्शन होने में और केवलदर्शन अर्थात् सारे जगत को हाथ की रेखा के समान देखने में रुकावट का आना ये सब के सब नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म के फल हैं। हे आर्य्य ! जब आत्मा दर्शनावरणीय कर्म बाँध लेता है तब वह जीव ऊपर कहे हुए फलों को भोगता है। अब हम यह बतावेंगे कि जीव किन कारणों से दर्शनावरणीय कर्म बाँध लेता है। सुनो—(१) जिसको अच्छी तरह से दीखता है उसे भी अन्धा और काना कह कर उसके साथ विरुद्धता करना (२) जिसके द्वारा अपने नेत्रों को फायदा पहुँचा हो और न देखने पर भी उस पदार्थ का सच्चा ज्ञान हो गया हो उस उपकारी के उपकार को भूल जाना (३) जिसके पास चक्षु ज्ञान से परे अवधिदर्शन है, जिस अवधिदर्शन से वह कई भव अपने एवं औरों के देख लेता है। उसकी अवज्ञा करते हुए कहना कि, क्या पड़ा है ऐसे अवधि-दर्शन में ? (४) जिसके दुखते हुए नेत्रों के अच्छे होने में वा चक्षुदर्शन से भिन्न अचक्षु के द्वारा होने वाले दर्शन में और अवधिदर्शन के प्राप्त होने में एवं सारे जगत् को हस्तामलकवत् देखने वाले के दर्शन प्राप्त करने में रोड़ा अटकाना। (५) जिसको नहीं दिखता है, या कम दिखता है, उसे कहे कि इस धूर्त को अच्छा दिखता है तो भी अन्धा बन बैठा है। चक्षुदर्शन से भिन्न अचक्षुदर्शन का जिसे अच्छा बोध नहीं होता हो उसे कहे कि जान-बूझ कर मूर्ख बन रहा है। और जो अवधिदर्शन से भव-भवान्तर के कर्त्तव्यों को जान लेता है उसको कहे कि ढोंगी है। एवं केवलदर्शन से जो प्रत्येक बात का स्पष्टीकरण करता है

उसे असत्यवादी कह कर जो दर्शन के साथ द्वेष भाव करता है। (६) इसी प्रकार चक्षुदर्शनीय, अवधिदर्शनीय एवं केवलदर्शनीय के साथ जो ठण्ठा करता है।

मूलः—वेयणीयं पि दुविहं, सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया, एमेव आसायस्स वि ॥७॥

छायाः—वेदनीयमपि च द्विविधं, सातमसातं चाख्यातम्।
सातस्य तु बहवो भेदा, एवमेवासातस्यापि ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (वेयणीयं पि) वेदनीय कर्म भी (सायमसायं च) साता और असाता (दुविहं) यों दो प्रकार का (आहियं) कहा गया है। (सायस्स) साता के (उ) तो (बहू) बहुत से (भेया) भेद हैं। (एमेव आसायस्स वि) इसी प्रकार असातावेदनीय के भी अनेक भेद हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! फुंसी, फोड़े, ज्वर, नेत्रशूल आदि अन्य तथा सब शारीरिक और मानसिक वेदना असातावेदनीय कर्म के फल हैं। इसी तरह निरोग रहना, चिन्ता, फिक्र कुछ भी नहीं होना ये सब शारीरिक और मानसिक सुख सातावेदनीय कर्म के फल हैं। हे गौतम ! यह जीव साता और असाता वेदनीय कर्मों को किन-किन कारणों से बांध लेता है, सो अब सुनो—धन सम्पत्ति आदि ऐहिक सुख प्राप्ति होने का कारण सातावेदनीय का बंधन है। यह साता वेदनीय बन्धन इस प्रकार बंधता है—दो इन्द्रिय वाले लट गिण्डोरे आदि; तीन इन्द्रिय वाले मकोड़े, चींटियां, जूं आदि; चार इन्द्रिय वाले मक्खी, मच्छर, भौंरे आदि; पांच इन्द्रिय वाले हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट, गाय, बकरी आदि तथा वनस्पति स्थित जीव और पृथ्वी, पानी, आग, वायु इन जीवों को किसी प्रकार से कष्ट और शोक नहीं पहुँचाने से एवं इनको झुराने तथा अश्रुपात न कराने से, लात-घूंसा आदि से न पीटने से परितापना न देने से, इनका विनाश न करने से, सातावेदनीय का बंध होता है।

शारीरिक और मानसिक जो दुःख होता है, वह असाता वेदनीय कर्म के उदय के कारणों से होता है। वे कारण यों हैं—प्राण, भूत, जीव और सत्व इस चारों ही प्रकार के जीवों को दुःख देने से, फिक्र उत्पन्न कराने से, झुराने से, अश्रुपात करने से, पीटने से, परिताप व कष्ट उत्पन्न कराने से असातावेदनीय का बंध होता है।

मूलः—मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा ।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥८॥

छायाः—मोहनीयमपि द्विविधं, दर्शने चरणे तथा ।
दर्शने त्रिविधमुक्तं, चरणे द्विविधं भवेत् ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (मोहणिज्जं पि) मोहनीय कर्म भी (दुविहं) दो प्रकार का है। (दंसणे) दर्शनमोहनीय (तहा) तथा (चरणे) चारित्रमोहनीय। अब (दंसणे) दर्शनमोहनीय कर्म (तिविहं) तीन प्रकार का (वुत्तं) कहा गया है और (चरणे) चारित्रमोहनीय (दुविहं) दो प्रकार का (भवे) होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! मोहनीय कर्म जो जीव बाँध लेता है उसको अपने आत्मीय गुणों का भान नहीं रहता है। जैसे मदिरापान करने वाले को कुछ भान नहीं रहता उसी तरह मोहनीय कर्म के उदय काल में जीव को शुद्ध श्रद्धा और क्रिया की तरफ भान नहीं रहता है। यह कर्म दो प्रकार का कहा गया है। एक दर्शनमोहनीय, दूसरा चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन प्रकार और चारित्रमोहनीय के दो प्रकार होते हैं।

मूलः—सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिण्णि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥९॥

छायाः—सम्यक्त्वं चैव मिथ्यात्वं, सम्यक्मिथ्यात्वमेव च ।
एतास्तिस्रः प्रकृतयः मोहनीयस्य दर्शने ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (मोहणिज्जस्स) मोहनीय सम्बन्ध के (दंसणे) दर्शन में अर्थात् दर्शनमोहनीय में (एयाओ) ये (तिण्णि) तीन प्रकार की (पयडीओ) प्रकृतियाँ हैं (सम्मत्तं) सम्यक्त्वमोहनीय (मिच्छत्तं) मिथ्यात्वमोहनीय (य) और (सम्मामिच्छत्तमेव) सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय।

भावार्थः—हे गौतम ! दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार का होता है। एक तो सम्यक्त्वमोहनीय, इसके उदय में जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति तो हो जाती है, परन्तु मोहवश ऐहिक सुख के लिए तीर्थंकरों की माला जपता रहता है। यह सम्यक्त्वमोहनीय कर्म का उदय है। यह कर्म जब तक बना रहता है तब

तक उस जीव के मोक्ष के सान्निध्यकारी क्षायिक गुण को रोक रखता है। और दूसरा मिथ्यात्वमोहनीय है। इसके उदयकाल में जीव सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझता है। और इसीलिए वह जीव चौरासी का अन्त नहीं पा सकता। चौदहवें गुणस्थान के बाद ही जीव की मुक्ति होती है। पर यह मिथ्यात्वमोहनीय कर्म जीव को दूसरे गुणस्थान पर भी पैर नहीं रखने देता। तब फिर तीसरे और चौथे गुणस्थान की तो बात ही निराली है। इसका तीसरा भेद सममिथ्यात्वमोहनीय है। इसके उदयकाल में जीव सत्य-असत्य दोनों को बराबर समझता है। जिससे हे गौतम! यह आत्मा न तो समदृष्टि की श्रेणी में है और न पूर्ण रूप से मिथ्यात्वी ही है। अर्थात् यह कर्म जीव को तीसरे गुणस्थान के ऊपर देखने तक का भी मौका नहीं देता है। हे गौतम! अब हम चारित्रमोहनीय के भेद कहते हैं, सो सुनो।

मूलः—चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तं वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव य ॥१०॥

छायाः—चारित्रमोहनं कर्म द्विविधं तद् व्याख्यातम्।
कषायमोहनीयं तु, नोकषायं तथैव च ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (चरित्तमोहणं) चारित्रमोहनीय (कम्मं) कर्म (तं) वह (दुविहं) दो प्रकार का (वियाहियं) कहा गया है। (कसायमोहणिज्जं) क्रोधादि रूप भोगने में आवे वह (य) और (तहेव) वैसे ही (नोकसायं) क्रोधादि के सहचारी हास्यादिक के रूप में जो अनुभव में आवे।

भावार्थः—हे गौतम! संसार के सम्पूर्ण वैभव को त्यागना चारित्र धर्म कहलाता है, उस चारित्र के अंगीकार करने में जो रोड़ा अटकाता है उसे चारित्र मोहनीय कहते हैं। यह कर्म दो प्रकार का है। एक तो क्रोधादि रूप में अनुभव में आता है। अर्थात् हंसना, भोगों में आनन्द मानना, धर्म में नाराजी आदि होना वह इस कर्म का उदय है।

मूलः—सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं, नवविहं वा, कम्मं च नोकसायजं ॥११॥

छाया:—षोडशविधभेदेन कर्म तु कषायजम् ।
सप्तविधं नवविधं वा, कर्म च नोकषायजम् ॥११॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (कसायजं) क्रोधादिक रूप से उत्पन्न होने वाला (कम्मं तु) कर्म तो (भेएणं) भेदों करके (सोलसविह) सोलह प्रकार का है। (च) और (नोकसायजं) हास्यादि से उत्पन्न होने वाला जो (कम्मं) कर्म है वह (सत्तविहं) सात प्रकार का (वा) अथवा (नवविहं) नौ प्रकार का माना गया है।

भावार्थ:—हे गौतम ! क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले कर्म के सोलह भेद हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, यों अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन के चार-चार भेदों के साथ इसके सोलह भेद हो जाते हैं और नोकषाय से उत्पन्न होने वाले कर्म के सात अथवा नौ भेद कहे गये हैं। वे यों हैं—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद यों सात भेद होते हैं और वेद के उत्तरभेद (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद) लेने से नौ भेद हो जाते हैं। अत्यन्त क्रोध, मान, माया और लोभ करने से तथा मिथ्या श्रद्धा में रत रहने से और अव्रती रहने से मोहनीय कर्म का बंध होता है।

हे गौतम ! अब हम आयुष्यकर्म का स्वरूप बतलावेंगे।

मूल:—नेरइयतिरिक्खाउं, मणुस्साउं तहेव य ।
देवाउअं चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥१२॥

छाया:—नैरयिकतिर्यगायुः मनुष्यायुस्तथैव च ।
देवायुश्चतुर्थं तु आयुः कर्म चतुर्विधम् ॥१२॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (आउकम्मं) आयुष्य कर्म (चउव्विहं) चार प्रकार का है (नेरइयतिरिक्खाउं) नरकायुष्य तिर्यंचायुष्य (तहेव) वैसे ही (मणुस्साउं) मनुष्यायुष्य (य) और (चउत्थं तु) चौथा (देवाउअं) देवायुष्य है।

भावार्थ:—हे गौतम ! आत्मा को नियत समय तक एक ही शरीर में रोक रखने वाले कर्म को आयुष्य कर्म कहते हैं। यह आयुष्य कर्म चार प्रकार का है—(१) नरक योनि में रखने वाला नरकायुष्य, (२) तिर्यंच योनि में रखने वाला तिर्यंचायुष्य, (३) मनुष्य योनि में रखने वाला मनुष्यायुष्य और (४) देव योनि में रखने वाला देवायुष्य कहलाता है।

हे गौतम ! अब हम इन चारों जगह का आयुष्य किन-किन कारणों से बँधता है, उसे कहते हैं। महारम्भ करना, अत्यन्त लालसा रखना, पंचेन्द्रिय जीवों का वध करना तथा मांस खाना, आदि ऐसे कार्यों से नरकायुष्य का बंध होता है। कपट करना, कपटपूर्वक फिर कपट करना, असत्य भाषण करना, तौलने की वस्तुओं में और नापने की वस्तुओं में कमीबेशी देना-लेना आदि ऐसे कार्यों को करने से तिर्यंचायुष्य का बन्ध होता है। निष्कपट व्यवहार करना, नम्रभाव होना, सब जीवों पर दयाभाव रखना, तथा ईर्ष्या नहीं करना आदि कार्यों से मनुष्यायुष्य का बंध होता है। सरागसंयम व गृहस्थधर्म के पालने, अज्ञानयुत् तपस्या करने, बिना इच्छा से भूख, प्यास आदि सहन करने तथा शीलव्रत पालने से देवायुष्य का बंध होता है।

हे गौतम ! अब हम आगे नामकर्म का स्वरूप कहते हैं, सो सुनोः—

मूलः—नामकम्मं तु दुविहं, सुहं असुहं च आहियं।
सुहस्स तु बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥१३॥

छायाः—नामकर्म तु द्विविधं शुभमशुभं चाख्यातम्।
शुभस्य तु बहवो भेदा एवमेवाशुभस्याऽपि ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (नामकम्मं तु) नाम कर्म तो (दुविहं) दो प्रकार का (आहियं) कहा गया है। (सुहं) शुभ नाम कर्म (च) और (असुहं) अशुभ नाम कर्म जिसमें (सुहस्स) शुभ नाम कर्म के (तु) तो (बहू) बहुत (भेया) भेद हैं। (असुहस्स वि) अशुभ नाम कर्म के भी (एमेव) इसी प्रकार अनेक भेद माने गये हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसके द्वारा शरीर सुन्दराकार हो अथवा जो असुन्दराकार होने में कारणभूत हो वही नाम कर्म है। यह नाम कर्म दो प्रकार का माना गया है। उनमें से एक शुभ नाम कर्म और दूसरा अशुभ नाम कर्म है। मनुष्य शरीर, देव शरीर, सुन्दर अंगोपांग, गौर वर्णादि, वचन में मधुरता का होना, लोकप्रिय, यशस्वी, तीर्थंकर आदि-आदि का होना, ये सब शुभ नाम कर्म के फल हैं। नारकीय, तिर्यंच का शरीर धारण करना, पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि में जन्म लेना, बेडौल अंगोपांगों का पाना, कुरूप और अयशस्वी होना। ये सब अशुभ नाम कर्म के फल हैं।

हे गौतम ! शुभ अशुभ नाम कर्म कैसे बँधता है सो सुनो:—मानसिक, वाचिक और कायिक कृत्य की सरलता रखने से और किसी के साथ किसी भी प्रकार का वैर विरोध न करने व न रखने से शुभनाम कर्म बँधता है। शुभनाम कर्म के बंधन से विपरीत बर्ताव के करने से अशुभ नाम कर्म बँधता है।

हे गौतम ! अब हम आगे गोत्र कर्म का स्वरूप बतलावेंगे।

मूल:—गोयकम्मं तु दुविहं, उच्चं नीअं च आहिअं।
उच्चं अट्ठविहं होइ, एवं नीअं वि आहिअं ॥१४॥

छाया:—गोत्रकर्म तु द्विविधं, उच्चं नीचं चाख्यातम्।
उच्चमष्टविधं भवति, एवं नीचमप्याख्यातम् ॥१४॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (गोयकम्मं तु) गोत्र कर्म (दुविहं) दो प्रकार का (आहिअं) कहा गया है। (उच्चं) उच्च गोत्र कर्म (च) और (नीअं) नीच गोत्र कर्म (उच्चं) उच्च गोत्र कर्म (अट्ठविहं) आठ प्रकार का (होइ) है (नीअं वि) नीच गोत्र कर्म भी (एवं) इसी तरह आठ प्रकार का होता है ऐसा (आहिअं) कहा गया है।

भावार्थ—हे गौतम ! उच्च तथा नीच जाति आदि मिलने में जो कारण-भूत हो उसे गोत्र कर्म कहते हैं। यह गोत्र कर्म ऊँच, नीच में विभक्त होकर आठ प्रकार का होता है। ऊँच जाति और ऊँचे कुल में जन्म लेना, बलवान होना, सुन्दराकार होना, तपवान् होना, प्रत्येक व्यवहार में अर्थ प्राप्ति का होना, विद्वान् होना, ऐश्वर्यवान् होना ये सब ऊँचे गोत्र के फल हैं। और इन सब बातों के विपरीत जो कुछ है उसे नीच गोत्र कर्म का फल समझो।

हे गौतम ! वह ऊँच नीच गोत्र कर्म इस प्रकार से बँधता है। स्वकीय, माता के वंश का, पिता के वंश का, ताकत का, रूप का, तप का, विद्वत्ता का और सुलभता से लाभ होने का घमण्ड न करने से ऊँच गोत्र कर्म का बंध होता है। और इसके विपरीत अभिमान करने से नीच गोत्र का बंध होता है। हे गौतम ! अब अन्तराय कर्म का स्वरूप बतलाते हैं।

मूलः—दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा ।
पंचविहमंतरायं, समासेण विआहियं ॥१५॥

छायाः—दाने लाभे च भोगे च, उपभोगे वीर्ये तथा ।
पञ्चविधमन्तरायं, समासेन व्याख्यातम् ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अन्तरायं) अन्तराय कर्म (समासेण) संक्षेप से (पंचविहं) पाँच प्रकार का (विआहियं) कहा गया है । (दाणे) दानान्तराय (य) और (लाभे) लाभान्तराय (भोगे) भोगान्तराय (य) और (उवभोगे) उपभोगान्तराय (तहा) वैसी ही (वीरिए) वीर्यान्तराय ।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसके उदय से इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा आये वह अन्तराय कर्म है । इसके पाँच भेद हैं । दान देने की वस्तु के विद्यमान होते हुए भी, दान देने का अच्छा फल जानते हुए भी, जिसके कारण दान नहीं दिया जा सके वह दानान्तराय है । व्यवहार में व माँगने में सब प्रकार की सुविधा होते हुए भी जिसके कारण प्राप्ति न हो सके वह लाभान्तराय है । खान-पान आदि की सामग्री के व्यवस्थित रूप से होने पर भी जिसके कारण खा-पी न सके, खा और पी भी लिया तो हजम न किया जा सके, वह भोगान्तराय कर्म है । भोग पदार्थ वे हैं, जो एक बार काम में आते हैं जैसे भोजन, पानी आदि और जो बार-बार काम में आते हैं उन्हें उपभोग माना गया है जैसे वस्त्र, आभूषण आदि । अतः जिसके उदय से उपभोग की सामग्री संघटित रूप से स्वाधीन होते हुए भी अपने काम में न ली जा सके उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते हैं । और जिसके उदय से युवान और बलवान होते हुए भी कोई कार्य न किया जा सके, वह वीर्यान्तराय कर्म का फल है ।

हे गौतम ! यह अन्तराय कर्म निम्न प्रकार से बँधता है । दान देते हुए के बीच बाधा डालने से, जिसे लाभ होता हो उसे धक्का लगाने से, जो खा-पी रहा हो या खाने-पीने का जो समय हुआ हो उसे टालने से, जो उपभोग की सामग्री को अपने काम में ला रहा हो उसे अन्तराय देने से तथा जो सेवा धर्म का पालन कर रहा हो उसके बीच रोड़ा अटकाने से आदि-आदि कारणों से यह जीव अन्तराय कर्म बाँध लेता है ।

हे गौतम ! अब हम आठों कर्मों की पृथक्-पृथक् स्थिति कहेंगे सो सुनो ।

मूल:—उदहीसरिसनामाणं, तीसई कोडिकोडीओ ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१६॥
आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेयणिज्जे तहेव य ।
अंतराए य कम्मंमि, ठिई एसा विआहिया ॥१७॥

छाया:—उदधिसदृङ्नाम्नां, त्रिंशत्कोटाकोटयः ।
उत्कृष्टा स्थितिर्भवति, अन्तर्मुहूर्त्ता जघन्यका ॥१६॥
आवरयोर्द्वयोरपि वेदनीये तथैव च ।
अन्तराये च कर्मणि स्थितिरेषा व्याख्याता ॥१७॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (दुण्हं पि) दोनों ही (आवरणिज्जाण) ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म की (तीसई) तीस (कोडिकोडीओ) कोटाकोटि (उदहीसरिसनामाणं) समुद्र के समान है नाम जिसका ऐसा सागरोपम (उक्कोसिया) ज्यादा से ज्यादा (ठिई) स्थिति (होई) है (तहेव) वैसे ही (वेयणिज्जे) वेदनीय (य) और (अन्तराए) अन्तराय (कम्मम्मि) कर्म के विषय में भी (एसा) इतनी ही उत्कृष्ट स्थिति है और (जहण्णिया) कम से कम चारों कर्मों की (अन्तोमुहुत्तं) अन्तर्मुहूर्त्त (ठिई) स्थिति (विआहिया) कही है ।

भावार्थ:—हे गौतम ! ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय ये चारों कर्म अधिक से अधिक रहें तो तीस क्रोडाक्रोडी (तीस क्रोड़ को तीस क्रोड़ से गुणा करने पर जो गुणनफल आवे उतने) सागरोपम की इनकी स्थिति मानी गई है । और कम से कम रहें तो अन्तर्मुहूर्त्त की इनकी स्थिति होती है ।

मूल:—उदहीसरिसनामाणं, सत्तरिं कोडिकोडीओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१८॥
तेत्तीसं सागरोवम, उक्कोसेण विआहिया ।
ठिई उ आउकम्मस्स, अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१९॥
उदहीसरिसनामाणं, वीसई कोडिकोडीओ ।
नामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठ मुहुत्ता जहण्णिया ॥२०॥

छाया:—उदधिसदृङ्नाम्नां सप्ततिः कोटाकोटयः।
मोहनीयस्योत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्ता जघन्यका ॥१८॥

त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा, उत्कर्षेण व्याख्याता।
स्थितिस्तु आयुः कर्मणः, अन्तर्मुहूर्त्ता जघन्यका ॥१९॥

उदधिसदृङ्नाम्नां, विंशतिः कोटाकोटयः।
नामगोत्रयोरुत्कृष्टा अष्ट मुहूर्त्ता जघन्यका ॥२०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (मोहणिज्जस्स) मोहनीय कर्म की (उक्कोसा) उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति (सत्तरि) सत्तर (कोडिकोडीओ) कोटा कोटि (उदहीसरिसनामाणं) सागरोपम है। और (जहण्णिया) जघन्य (अन्तोमुहुत्तं) अन्तर्मुहूर्त्त और (आउकम्मस्स) आयुष्य कर्म की (उक्कोसेण) उत्कृष्ट स्थिति (तेत्तीसं सागरोवम) तेतीस सागरोपम की है। और (जहण्णिया) जघन्य (अन्तोमुहुत्तं) अन्तर्मुहूर्त्त की और इसी प्रकार (नामगोत्ताणं) नाम कर्म और गोत्र कर्म की (उक्कोसा) उत्कृष्ट स्थिति (वीसई) बीस (कोडिकोडिओ) कोटाकोटि (उदहीसरिसनामाणं) सागरोपम की है। और (जहण्णिया) जघन्य (अट्ठ) आठ (मुहुत्ता) मुहूर्त की (ठिई) स्थिति (विआहिया) कही है।

भावार्थः—हे गौतम ! मोहनीय कर्म की ज्यादा से ज्यादा स्थिति सत्तर कोड़ाक्रोड़ सागरोपम की है। और जघन्य (कम से कम) स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है। आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है। नाम कर्म एवं गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाक्रोड़ सागरोपम की है और जघन्य आठ मुहूर्त की कही है।

मूलः—एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥२१॥

छायाः—एकदाः देवलोकेषु नरकेष्वेकदा।
एकदा आसुरं कायं, यथा कर्मभिर्गच्छति ॥२१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अहाकम्मेहिं) जैसे कर्म किये हैं, उनके अनुसार आत्मा (एगया) कभी तो (देवलोएसु) देवलोक में (एगया) कभी (नरएसु वि)

नरक में (एगया) कभी (आसुरं) भवनपति आदि असुर की (कायं) काय में (गच्छइ) जाता है।

भावार्थः—हे गौतम ! आत्मा जब शुभ कर्म उपार्जन करता है तो वह देव-लोक में जाकर उत्पन्न होता है। यदि वह आत्मा अशुभ कर्म उपार्जन करता है तो नरक में जाकर घोर यातना सहता है। और कभी अज्ञानपूर्वक बिना इच्छा के क्रियाकाण्ड करता है तो वह भवनपति आदि देवों में जाकर उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध हुआ कि यह आत्मा जैसा कर्म करता है वैसा स्थान पाता है।

मूलः—तेणे जहा संधिमुहे गहीए;
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए;
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥२२॥

छायाः—स्तेनो यथा सन्धिमुखे गृहीतः,
स्वकर्मणा क्रियते पापकारी।
एवं प्रजा प्रेत्य इह च लोके,
कृतानां कर्मणां न मोक्षोऽस्ति ॥२२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (पावकारी) पाप करने वाला (तेणे) चोर (संधिमुहे) खात के मुंह पर (गहीए) पकड़ा जा कर (सकम्मुणा) अपने किए हुए कर्मों के द्वारा ही (किच्चइ) छेदा जाता है, दुःख उठाता है, (एवं) इसी प्रकार (पया) प्रजा अर्थात् लोक (पेच्चा) परलोक (च) और (इहंलोए) इस लोक में किये हुए दुष्कर्मों के द्वारा दुःख उठाते हैं। क्योंकि (कडाण) किये हुए (कम्माण) कर्मों को भोगे बिना (मुक्ख) छुटकारा (न) नहीं (अत्थि) होता।

भावार्थः—हे गौतम ! कर्म कैसे हैं ? जैसे कोई अत्याचारी चोर खात के मुंह पर पकड़ा जाता है, और अपने कृत्यों के द्वारा कष्ट उठाता है अर्थात् प्राणान्त कर बैठता है। वैसे ही यह आत्मा अपने किये हुए कर्मों के द्वारा इस

लोक और परलोक में महान् दुःख उठाता है। क्योंकि किये हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता है।[1]

मूल:—संसारमावण्ण परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बंधवा बंधवयं उविंति ॥२३॥

छाया:—संसारमापन्नः परस्यार्थाय,
साधारणं यच्च करोति कर्म।
कर्मणस्ते तस्य तु वेदकाले,
न बान्धवा बान्धवत्त्वमुपयान्ति ॥२३॥

---

१ किसी समय कई एक चोर चोरी करने जा रहे थे। उन में एक सुथार भी शामिल हो गया। वे चोर एक नगर में एक धनाढ्य सेठ के यहाँ पहुँचे। वहाँ उन्होंने सेंध लगाई। सेंध लगाते-लगाते दीवार में काठ का एक पटिया दिख पड़ा, तब वे चोर साथ के उस सुथार से बोले कि अब तुम्हारी बारी है, पटिया काटना तुम्हारा काम है। अतः सुथार अपने शस्त्रों द्वारा काठ के पटिये को काटने लगा। अपनी कारीगरी दिखाने के लिए सेंध के छेदों में चारों ओर तीखे-तीखे कंगूरे उसने बना दिये। फिर वह खुद चोरी करने के लिए अन्दर घुसा। ज्योंही उसने अन्दर पैर रखा, त्यों ही मकान मालिक ने उसका पैर पकड़ लिया। सुथार चिल्लाया, दौड़ो-दौड़ो, और बोला···म···का···न मा···लि···क मकान मा··· लि···क ! मेरे पाँव छुड़ाओ। यह सुनते ही चोर झपटे, और लगे सर पकड़ कर खींचने। सुथार बेचारा बड़े ही झमेले में पड़ गया। भीतर और बाहर दोनों तरफ से जोरों की खींचातानी होने लगी। बस, फिर क्या था ? जैसे बीज उसने बोये फसल भी वैसी ही उसे काटनी पड़ी। उसके निज के बनाये हुए सेंध के पैने-पैने कंगूरों ने ही उसके प्राणों का अंत कर दिया। आत्मा के लिए भी यही बात लागू होती है। वह भी अपने ही अशुभ कर्मों के द्वारा लोक और परलोक में महान् कष्टों के झकझोरों में पड़ता है।

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (संसारमावण्ण) संसार के प्रपंच में फँसा हुआ आत्मा (परस्स) दूसरों के (अट्ठा) लिए (य) तथा (साहारणं) स्व और पर के लिए (जे) जो (कम्मं) कर्म (करेइ) करता है। (तस्स उ) उस (कम्मस्स) कर्म के (वेयकाले) भोगते समय (ते) वे (बंधवा) कौटुम्बिक जन (बंधवयं) बन्धुत्व-पन को (न) नहीं (उविंति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! संसारी आत्मा ने दूसरों के तथा अपने लिए जो दुष्ट कर्म उपार्जन किये हैं, वे कर्म जब उसके फल स्वरूप में आवेंगे उस समय जिन बन्धु-बान्धवों और मित्रों के लिए तथा स्वतः के लिए वे दुष्कर्म किये थे वे कोई भी आकर पाप के फल भोगने में सम्मिलित नहीं होंगे।

मूलः—न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥ २४ ॥

छायाः—न तस्य दुःखं विभजन्ते ज्ञातयः,
न मित्रवर्गा न सुता न बान्धवाः।
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखं,
कर्त्तारमेवानुयाति कर्म ॥२४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तस्स) उस पाप कर्म करने वाले के (दुक्खं) दुःख को (नाइओ) स्वजन वर्गरह भी (न) नहीं (विभयंति) विभाजित कर सकते हैं और (न) न (मित्तवग्गा) मित्रवर्ग (न) न (सुया) पुत्र वर्ग (न) न (बंधवा) बन्धुजन, कर्मों के फल में भाग ले सकते हैं। (इक्को) वही अकेला (दुक्खं) दुःख को (पच्चणुहोइ) भोगता है। क्योंकि (कम्मं) कर्म (कत्तारमेव) करने वाले ही के साथ (अणुजाइ) जाता है।

भावार्थः—हे गौतम ! किये हुए कर्मों का जब उदय होता है उस समय ज्ञातिजन, मित्र लोग, पुत्रवर्ग, बन्धुजन आदि कोई भी उस में हिस्सा नहीं बँटा सकते हैं। जिस आत्मा ने कर्म किये हैं वही आत्मा अकेला उसका फल भोगता है। यहाँ से मरने पर किये हुए कर्म करने वाले के साथ ही जाते हैं।

मूलः—चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खित्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ,
परंभवं सुन्दरं पावगं वा ॥२५॥

छायाः—त्यक्त्वा द्विपदं चतुष्पदं च,
क्षेत्रं गृहं धनधान्यं च सर्वम् ।
स्वकर्म द्वितीयोऽवशः प्रयाति,
परं भवं सुन्दरं पापकं वा ॥२५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सकम्मबीओ) आत्मा का दूसरा साथी उसका अपना किया हुआ कर्म ही है । इसी से (अवसो) परवश होता हुआ यह जीव (सव्वं) सब (दुपयं) स्त्री, पुत्र, दास, दासी आदि (च) और (चउप्पयं) हाथी, घोड़े आदि (च) और (खित्तं) खेत वगैरह (गिहं) घर (धण) रुपया, पैसा, सिक्का वगैरह (धन्नं) अन्न वगैरह को (चिच्चा) छोड़कर (सुन्दरं) स्वर्गादि उत्तम (वा) अथवा (पावगं) नरकादि अधम ऐसे (परंभवं) परभव को (पयाइ) जाता है ।

भावार्थः—हे गौतम ! स्वकृत कर्मों के अधीन होकर यह आत्मा स्त्री, पुत्र, हाथी, घोड़े, खेत, घर, रुपया, पैसा, धान्य, चाँदी, सुवर्ण आदि सभी को मृत्यु की गोद में छोड़कर जैसे भी शुभाशुभ कर्म इसके द्वारा किये होते हैं उनके अनुसार स्वर्ग तथा नरक में जाकर उत्पन्न होता है।

मूलः—जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥२६॥

छाया:—यथा चाण्डप्रभवा बलाका,
अण्डं बलाकाप्रभवं यथा च।
एवमेव मोहायतनं खलु तृष्णा:
मोहं च तृष्णायतनं वदन्ति ॥२६॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (जहा य) जैसे (अंडप्पभवा बलागा) अण्डा से बगुली उत्पन्न हुई (य) और (जहा) जैसे (अंडं बलागप्पभवं) बगुली से अण्डा उत्पन्न हुआ (एमेव) इसी तरह (खु) निश्चय करके (मोहायणं) मोह का स्थान (तण्हा) तृष्णा (च) और (तण्हायणं) तृष्णा का स्थान (मोहं) मोह है, ऐसा (वयंति) ज्ञानी जन कहते हैं।

भावार्थ:—हे गौतम ! जैसे अण्डे से बगुली (मादा बगुला) उत्पन्न होती है और बगुली से अण्डा पैदा होता है। इसी तरह से मोह कर्म से तृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णा से मोह उत्पन्न होता है। हे गौतम ! ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं।

मूल:—रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥२७॥

छाया:—रागश्च द्वेषोऽपि च कर्मबीजं,
कर्म च मोहप्रभवं वदन्ति।
कर्म च जातिमरणयोर्मूलं,
दुःखं च जातिमरणं वदन्ति ॥२७॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (रागो) राग (य) और (दोसो वि य) दोष ये दोनों (कम्मबीयं) कर्म उत्पन्न करने में कारणभूत है (च) और (कम्मं) कर्म (मोहप्पभवं) मोह से उत्पन्न होते हैं। ऐसा (वयंति) ज्ञानी जन कहते है। (च) और (जाईमरणस्स) जन्म मरण का (मूलं) मूल कारण (कम्मं) कर्म है (च) और (जाईमरणं) जन्म-मरण ही (दुक्खं) दुःख है, ऐसा (वयंति) ज्ञानी-जन कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम वे राग और द्वेष कर्म से उत्पन्न होते हैं और कर्म मोह से पैदा होते हैं। यही कर्म जन्म-मरण का मूल कारण है और जन्म-मरण ही दुःख है, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष और कर्म में परस्पर द्विमुख कार्य-कारण भाव है। जैसे बीज, वृक्ष का कारण और कार्य दोनों है तथा वृक्ष भी बीज का कार्य और कारण है, उसी प्रकार कर्म राग-द्वेष का कार्य भी है और कारण भी; तथा राग-द्वेष कर्म का कार्य भी है और कारण भी है।

मूलः—दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥२८॥

छायाः—दुःखं हतं यस्य न भवति मोहः,
मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा।
तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः,
लोभो हतो यस्य न किञ्चन ॥२८॥

अन्वयार्थः—(जस्स) जिसने (दुक्खं) दुःख को (हयं) नाश कर दिया है उसे (मोहो) मोह (न) नहीं (होइ) होता है और (जस्स) जिसने (मोहो) मोह (हओ) नष्ट कर दिया है उसे (तण्हा) तृष्णा (न) नहीं (होइ) होती। (जस्स) जिसने (तण्हा) तृष्णा (हया) नष्ट करदी उसे (लोहो) लोभ (न) नहीं (होइ) होता, और (जस्स) जिसने (लोहो) लोभ (हओ) नष्ट कर दिया उसके (किंचणाइं) ममत्व (न) नहीं रहता।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसने दुःख रूपी भयंकर सागर का पार पा लिया है वह मोह के बन्धन में नहीं पड़ता। जिसने मोह का समूल उन्मूलन कर दिया है उसे तृष्णा नहीं सता सकती। जिसने तृष्णा का त्याग कर दिया है उसमें लोभ की वासना कायम नहीं रह सकती। जो पाप के बाप लोभ से मुक्त हो गया, उसके सभी कुछ मानों नष्ट हो गया। निर्लोभता के कारण वह अपने को अकिंचन समझने लगता है।

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(तृतीय अध्याय)

धर्म-स्वरूप वर्णन

(श्री भगवानुवाच)

मूलः—कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥१॥

छायाः—कर्मणां तु प्रहाण्या, आनुपूर्व्या कदापि तु ।
जीवा शुद्धिमनुप्राप्ताः, आददते मनुष्यताम् ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (आणुपुव्वी) अनुक्रम से (कम्माणं) कर्मों की (पहाणाए) न्यूनता होने पर (कयाइ उ) कभी (जीवा) जीव (सोहिमणुप्पत्ता) शुद्धता प्राप्त कर (मणुस्सयं) मनुष्यत्व को (आययंति) प्राप्त होते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! जब यह जीव अनेक जन्मों में दुःख सहन करता हुआ धीरे-धीरे मनुष्य जन्म के बाधक कर्मों को नष्ट कर लेता है । तब कहीं कर्मों के भार से हलका होकर मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है ।

मूलः—वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुव्वया ।
उविंति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥२॥

छायाः—विमात्राभिः शिक्षाभिः, ये नरा गृहि-सुव्रताः ।
उपयान्ति मानुष्यं योनिं, कर्मसत्या हि प्राणिनः ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (नरा) मनुष्य (वेमायाहिं) विविध प्रकार की (सिक्खाहिं) शिक्षाओं के साथ (गिहिसुव्वया) गृहस्थावास में

सुव्रतों 'अणुव्रतों' का आचरण करने वाले हों, वे मनुष्य फिर (माणुसं) मनुष्य (जोणिं) योनि को (उविंति) प्राप्त होते हैं। (हु) क्योंकि (पाणिणो) प्राणी (कम्मसच्चा) सत्य कर्म करने वाला है, अर्थात् जैसे कर्म वह करता है वैसी ही उसकी गति होती है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो नाना प्रकार के त्याग धर्म को धारण करता है, प्रत्येक के साथ निष्कपट व्यवहार करता है, वही मनुष्य पुनः मनुष्य भव को प्राप्त हो सकता है। क्योंकि जैसे कर्म वह करता है, उसी के अनुसार गति मिलती है।

मूलः—बाला किड्डा य मंदा य, बला पन्ना य हायणी।
पवंच्चा पब्भारा य, मुम्मुही सायणी तहा ॥३॥

छायाः—बाला क्रीडा च मन्दा च, बला प्रज्ञा च हायनी।
प्रपञ्चा प्राग्भारा च मुन्मुखी शायिनी तथा ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! मनुष्य की दश अवस्थाएँ हैं। प्रथम (बाला) बाल्यावस्था (य) और दूसरी (किड्डा) क्रीड़ावस्था (मंदा) तीसरी मन्दावस्था (बला) चौथी बलावस्था (य) और (पन्ना) पाँचवीं प्रज्ञावस्था छट्ठी (हायणी) हायनी अवस्था तथा सातवीं (पवंचा) प्रपंचावस्था (य) और आठवीं (पब्भारा) प्राग्भारावस्था। नौवीं (मुम्मुही) मुम्मुखी अवस्था (तहा) तथा मनुष्य की दशवीं अवस्था (सायणी) शायनी अवस्था होती है।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस समय मनुष्य की जितनी आयु हो उतनी आयु को दश भागों में बाँटने से दश अवस्थाएँ होती है। जैसे सौ वर्ष की आयु हो तो दश वर्षों की एक अवस्था, यों दश-दश वर्षों की दश अवस्थाएँ है। प्रथम बाल्यावस्था है कि जिसमें खाना, पीना, कमाना, रूप आदि सुख-दुःख का प्रायः भान नहीं रहता है। दश वर्ष से बीस वर्ष तक खेलने-कूदने की प्रायः धुन रहती है, इसलिए दूसरी अवस्था का नाम क्रीड़ावस्था है। बीस वर्ष से तीस वर्ष तक अपने गृह में जो काम-भोगों की सामग्री जुटी हुई है उसी को भोगते रहना और नवीन अर्थ सम्पादन करने में प्रायः बुद्धि की मन्दता रहती है, इसी से तीसरी मन्दावस्था है। तीस से चालीस वर्ष पर्यंत यदि वह स्वस्थ रहे तो उस हालत में वह कुछ बली दिखलाई देता है, इसी से चौथी बलावस्था

कही गयी है। चालीस से पचास वर्ष तक इच्छित अर्थ का सम्पादन करने के लिये तथा कुटुम्ब वृद्धि के लिए बुद्धि का खूब प्रयोग करता है, इसी से पाँचवीं प्रज्ञावस्था है। ५० से ६० वर्ष तक जिसमें इन्द्रियजन्य विषय ग्रहण करने में कुछ हीनता आजाती है इसीलिए छठी हायनी अवस्था है। साठ से सत्तर वर्ष तक बार-बार कफ निकलने, थूँकने और खाँसने का प्रपंच बढ़ जाता है। इसी से सातवीं प्रपंचावस्था है। शरीर पर सलवट पड़ जाते हैं और शरीर भी कुछ झुक जाता है इसी से सत्तर से अस्सी वर्ष तक की अवस्था को प्राग्भार अवस्था कहते हैं। नौवीं अस्सी से नब्बे वर्ष तक मुन्मुखी अवस्था में जीव जरारूप राक्षसी से पूर्ण रूप से घिर जाता है। या तो इसी अवस्था में परलोक वासी बन बैठता है और यदि जीवित रहा तो एक मृतक के समान ही है। नब्बे से सौ वर्ष तक प्रायः दिन-रात सोते रहना ही अच्छा लगता है। इसलिए दशवीं शायनी अवस्था कही जाती है।

मूलः—माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥४॥

छायाः—मानुष्यं विग्रहं लब्ध्वा श्रुति धर्मस्य दुर्लभा।
यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपः क्षान्तिमहिंसताम् ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (माणुस्सं) मनुष्य के (विग्गहं) शरीर को (लद्धुं) प्राप्त कर (धम्मस्स) धर्म का (सुई) श्रवण करना (दुल्लहा) दुर्लभ है। (जं) जिसको (सोच्चा) सुनने से (तवं) तप करने की (खंतिमहिंसयं) तथा क्षमा और अहिंसा के पालन करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

भावार्थः—हे गौतम! दुर्लभ मानव देह को पा भी लिया तो भी धार्मिक तत्त्व का श्रवण करना महान् दुर्लभ है। जिसके सुनने से तप, क्षमा, अहिंसा आदि करने की प्रबल इच्छा जाग उठती है।

मूलः—धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥५॥

छायाः—धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टं, अहिंसा संयमस्तपः।
देवा अपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः ॥५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अहिंसा) जीव दया (संयम) यत्ना और (तवो) तप रूप (धम्मो) धर्म (उक्किट्ठं) सब से अधिक (मंगल) मंगलमय है। इस प्रकार के (धम्मे) धर्म में (जस्स) जिसका (सया) हमेशा (मणो) मन है, (तं) उसको (देवा वि) देवता भी (नमंसंति) नमस्कार करते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! किंचित्मात्र भी जिसमें हिंसा नहीं है, ऐसी अहिंसा, संयम और मन-वचन-काया के अशुभ योगों का घातक तथा पूर्वकृतापों का नाश करने में अग्रसर ऐसा तप, ये ही जगत में प्रधान और मंगलमय धर्म के अंग हैं। बस एकमात्र इसी धर्म को हृदयंगम करने वाला मानव देवों से भी सदैव पूजित होता है, तो फिर मनुष्यों द्वारा वह पूज्य दृष्टि से देखा जाय इस में आश्चर्य ही क्या है ?

मूलः—मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुविंति साहा।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता,
तओ से पुप्फं च फलं रसो अ ॥६॥

छायाः—मूलात्स्कन्धप्रभवो द्रुमस्य,
स्कन्धात् पश्चात् समुपयान्ति शाखाः।
शाखाप्रशाखाभ्योविरोहन्ति पत्राणि,
ततस्तस्य पुष्पं च फलं रसश्च ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (दुमस्स) वृक्ष के (मूलाउ) मूल से (खंधप्पभवो) स्कन्ध अर्थात् "पींड" पैदा होता है (पच्छा) पश्चात् (खंधाउ) स्कंध से (साहा) शाखा (समुविंति) उत्पन्न होती है। और (साहप्पसाहा) साखा प्रतिशाखा से (पत्ता) पत्ते (विरुहंति) पैदा होते हैं। (तओ) उसके बाद (से) वह वृक्ष (पुप्फं) फूलदार (च) और (फलं) फलदार (अ) और (रसो) रस वाला बनता है।

भावार्थः—हे गौतम ! वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है। तदनन्तर स्कन्ध से शाखा, टहनियाँ और उसके बाद पत्ते उत्पन्न होते हैं। अन्त में वह वृक्ष फूलदार, फलदार व रस वाला होता है।

मूलः—एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो ।
जेण कित्तिं सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ ॥७॥

छायाः—एवं धर्मस्य विनयो मूलं परमस्तस्य मोक्षः ।
येन कीर्तिं श्रुतं शीघ्रं निश्शेषं चाभिगच्छति ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एवं) इसी प्रकार (धम्मस्स) धर्म की (परमो) मुख्य (मूलं) जड़ (विणओ) विनय है। फिर उससे क्रमशः आगे (से) वह (मुक्खो) मुक्ति है। इसलिए पहले विनय आदरणीय है। (जेण) जिससे वह (किर्त्ति) कीर्ति को (च) और (नीसेसं) सम्पूर्ण (सुअं) श्रुत ज्ञान को (सिग्घं) शीघ्र (अभिगच्छइ) प्राप्त करता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार वृक्ष अपनी जड़ के द्वारा क्रमपूर्वक रस वाला होता है। उसी प्रकार धर्म की जड़ विनय है। विनय के पश्चात् ही स्वर्ग, शुक्लध्यान, अपकश्रेणी आदि उत्तरोत्तर गुणों के साथ रसवान वृक्ष के समान आत्मा मुक्ति रूपी रस को प्राप्त कर लेती है। जब मूल ही नहीं है तो शाखा पत्ते फूल फल रस कहाँ से होंगे ? ऐसे ही जब विनय धर्म रूप मूल ही नहीं हो तो मुक्ति का मिलना महान् कठिन है। हे गौतम ! सबों के लिए विनय आदरणीय है। विनय से कीर्ति फैलती है और विनयवान् शीघ्र ही सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

मूलः—अणुसट्ठं पि बहुविहं,
मिच्छ दिट्ठिया जे नरा अबुद्धिया ।
बद्धनिकाइयकम्मा,
सुणंति धम्मं न परं करेंति ॥८॥

छायाः—अनुशिष्टमपि बहुविधं,
मिथ्यादृष्टयो ये नरा अबुद्धयः ।
बद्धनिकाचितकर्माणः
शृण्वन्ति धर्मं न परं कुर्वन्ति ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (बहुविहं) अनेक प्रकार से (धम्मं) धर्म को (अणुसट्ठं पि) शिक्षित गुरु के द्वारा सीखने पर भी (बद्धनिकाइयकम्मा) बंधे हैं निकाचित कर्म जिसके ऐसे (अबुद्धिया) बुद्धिरहित (मिच्छादिट्ठिया) मिथ्या दृष्टि (नरा) मनुष्य (जे) वे केवल (धम्मं) धर्म को (सुणंति) सुनते हैं (वरं) परन्तु (न) नहीं (करेंति) अनुसरण करते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! गृहस्थधर्म और चारित्रधर्म को शिक्षित गुरु के द्वारा सुन लेने पर भी बुद्धिरहित मिथ्यादृष्टि मनुष्य केवल इन धर्मों को सुन कर ही रह जाते हैं। उनके अनुसार अपने कर्तव्य को नहीं बना सकते हैं। क्योंकि उनके प्रगाढ़—निकाचित कर्म का उदय होता है।

मूलः—जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥९॥

छायाः—जरा यावन्न पीडयति, व्याधिर्यावन्न वर्धते।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते, तावद्धर्मं समाचरेत् ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जाव) जब तक (जरा) वृद्धावस्था (न) नहीं (पीडेइ) सताती और (जाव) जब तक (वाही) व्याधि (न) नहीं (वड्ढइ) बढ़ती और (जाविंदिया) जब तक इन्द्रियाँ (न) नहीं (हायंति) शिथिल होतीं (ताव) तब तक (धम्मं) धर्म का (समायरे) आचरण कर ले।

भावार्थः—हे गौतम ! जब तक वृद्धावस्था नहीं सताती, धर्म घातक व्याधि की बढ़ती नहीं होती, निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने में सहायक श्रोत्रेन्द्रिय तथा जीव दया पालन करने में सहायक चक्षु आदि इन्द्रियों की शिथिलता नहीं आ घेरती तब तक धर्म का आचरण बड़े ही दृढ़तापूर्वक कर लेना चाहिए।

मूलः—जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनिअत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ ॥१०॥

छायाः—या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्त्तते।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफला यान्ति रात्रयः ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जा जा) जो जो (रयणी) रात्रि (वच्चइ) जाती है (सा) वह रात्रि (न) नहीं (पडिनिअत्तइ) लौट कर आती है। अतः (अहम्मं) अधर्म (कुणमाणस्स) करने वाले की (राइओ) रात्रियाँ (अफला) निष्फल (जंति) जाती हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो जो रात और दिन बीत रहे हैं वह समय पीछे लौट कर नहीं आ सकता। अतः ऐसे अमूल्य समय में मानव शरीर पाकर के भी जो अधर्म करता है, तो उस अधर्म करने वाले का समय निष्फल जाता है।

मूलः—जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनिअत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ॥११॥

छायाः—या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्त्तते।
धर्मं च कुर्वाणस्य, सफला यान्ति रात्रयः ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जा जा) जो जो (रयणी) रात्रि (वच्चइ) निकलती है (सा) वह (न) नहीं (पडिनिअत्तइ) लौट कर आती है। अतः (धम्मं च) धर्म (कुणमाणस्स) करने वाले की (राइओ) रात्रियाँ (सफला) सफल (जंति) जाती हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! रात और दिन का जो समय जा रहा है वह पुनः लौट कर किसी भी तरह नहीं आ सकता। ऐसा समझ कर जो धार्मिक जीवन बिताते हैं उनका समय (जीवन) सफल है।

मूलः—सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
णिव्वाणं परमं जाइ, घयसित्ति व्व पावए ॥१२॥

छायाः—शुद्धि ऋजुभूतस्य, धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति।
निर्वाणं परमं याति, घृतसिक्त इव पावकः ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (उज्जुअभूयस्य) सरल स्वभावी का हृदय (सोही) शुद्ध होता है। उस (सुद्धस्स) शुद्ध हृदय वाले के पास (धम्मो) धर्म (चिट्ठइ) स्थिरता से रहता है। जिससे वह (परमं) प्रधान (णिव्वाणं) मोक्ष

को (जाइ) जाता है। (व्व) जैसे (पावए) अग्नि में (घयसित्ति) घी सींचने पर अग्नि प्रदीप्त होती है। ऐसे ही आत्मा भी बलवती होती है।

भावार्थः—हे गौतम! स्वभाव को सरल रखने से आत्मा कषायादि से रहित होकर (शुद्ध) निर्मल हो जाती है। उस शुद्धात्मा के धर्म की भी स्थिरता रहती है। जिससे उसकी आत्मा जीवन-मुक्त हो जाती है। जैसे अग्नि में घी डालने से वह चमक उठती है उसी तरह आत्मा के कषायादिक आवरण दूर हो जाने से वह भी अपने केवलज्ञान आदि गुणों से देदीप्यमान हो उठती है।

मूलः—जरामरणवेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥१३॥

छायाः—जरामरणवेगेन वाह्यमानानाम् प्राणिनाम्।
धर्मो द्वीपः प्रतिष्ठा च, गतिः शरणमुत्तमम् ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जरामरणवेगेणं) जरा मृत्यु रूप जल के वेग से (बुज्झमाणाण) डूबते हुए (पाणिणं) प्राणियों को (धम्मो) धर्म (पइट्ठा) निश्चल आधारभूत (गई) स्थान (य) और (उत्तमं) प्रधान (सरणं) शरणरूप (दीवो) द्वीप है।

भावार्थः—हे गौतम! जन्म, जरा, मृत्यु रूप जल के प्रवाह में डूबते हुए प्राणियों को मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला धर्म ही निश्चल आधारभूत स्थान और उत्तम शरण रूप एक टापू के समान है।

मूलः—एस धम्मे धुवे णितिए, सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झंति चाणेणं, सिज्झिसंति तहावरे ॥१४॥

छायाः—ऐषो धर्मो ध्रुवो नित्यः शाश्वतो जिनदेशितः।
सिद्धाः सिद्धयन्ति चानेन, सेत्स्यन्ति तथाऽपरे ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जिणदेसिए) तीर्थंकरों के द्वारा कहा हुआ (एस) यह (धम्मे) धर्म (धुवे) ध्रुव है (णितिए) नित्य है (सासए) शाश्वत है (अणेणं) इस धर्म के द्वारा अनंत जीव भूतकाल में सिद्ध हुए हैं (च) और वर्तमान काल में (सिज्झंति) सिद्ध हो रहे हैं (तहा) उसी तरह (अवरे) भविष्यत काल में भी (सिज्झिसंति) सिद्ध होंगे।

भावार्थः—हे गौतम ! पूर्ण ज्ञानियों के द्वारा कहा हुआ यह धर्म ध्रुव के समान है। तीन काल में नित्य है। शाश्वत है। इसी धर्म को अङ्गीकार कर के अनंत जीव भूतकाल में कर्मों के बंधन से मुक्त होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो गये हैं। वर्तमान काल में हो रहे हैं। और भविष्यत् काल में भी इसी धर्म का सेवन करते हुए अनंत जीव मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

इति तृतीयोऽध्यायः

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(चतुर्थ अध्याय)

आत्म शुद्धि के उपाय

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः—जह णरगा गम्मंति, जे णरगा जा य वेयणा णरए।
सारीरमाणसाइं, दुक्खाइं तिरिक्खजोणीए ॥१॥

छायाः—यथा नरका गच्छन्ति ये नरका या च वेदना नरके।
शारीरमानसानि दुःखानि तिर्यग् योनौ ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (णरगा) नारकीय जीव (णरए) नरक में (गम्मंति) जाते हैं। (जे) वे (णरगा) नारकीय जीव (जा) नरक में उत्पन्न हुई (वेयणा) वेदना को सहन करते है। उसी तरह (तिरिक्खजोणीए) तिर्यंच योनियों में जाने वाली आत्माएँ भी (सारीरमाणसाइं) शारीरिक, मानसिक (दुक्खाइं) दुःखों को सहन करती हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार नरक में जाने वाले जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार नरक में होने वाली महान वेदना को सहन करते हैं, उसी तरह तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने वाले आत्मा भी कर्मों के फल रूप में अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को सहन करते हैं।

मूलः—माणुस्सं च अणिच्चं, वाहिजरामरणवेयणापउरं।
देवे य देवलोए, देविड्ढि देवसोक्खाइं ॥२॥

छायाः—मानुष्यं चानित्यं व्याधिजरामरणवेदना प्रचुरम् ।
देवश्च देवलोको देवर्द्धि देवसौख्यानि ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (माणुस्सं) मनुष्य जन्म (अणिच्चं) अनित्य है (च) और वह (वाहिजरामरणवेयणापउरं) व्याधि, जरा, मरण, रूप प्रचुर वेदना से युक्त है (य) और (देवलोए) देवलोक में (देवे) देवपर्याय (देविड्ढि) देव ऋद्धि और (देवसोक्खाइं) देवता संबंधी सुख भी अनित्य है ।

भावार्थ—हे गौतम ! मनुष्य जन्म अनित्य है । साथ ही जरा-मरण आदि व्याधि की प्रचुरता से भरा पड़ा है । और पुण्य उपार्जन कर जो स्वर्ग में गये हैं, वे वहाँ अपनी देव ऋद्धि और देवता संबंधी सुखों को भोगते हैं । परन्तु आखिर वे भी वहाँ से चवते हैं ।

मूलः—णरगं तिरिक्खजोणिं, माणुसभावं च देवलोगं च ।
सिद्धे अ सिद्धवसहिं, छज्जीवणियं परिकहेइ ॥३॥

छायाः—नरकं तिर्यग्योनिं मानुष्यभवं देवलोकं च ।
सिद्धिश्च सिद्धवसतिं षट्जीवनिकायं परिकथति ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! जो जीव पाप कर्म करते है, वे (णरगं) नरक को और (तिरिक्खजोणिं) तिर्यंच योनि को प्राप्त होते हैं । और जो पुण्य उपार्जन करते हैं, वे (माणुसभावं) मनुष्य भव को (च) और (देवलोगं) देवलोक को जाते हैं, (अ) और जो (छज्जीवणियं) षट्काय के जीवों की रक्षा करते हैं, वह (सिद्धवसहिं) सिद्धावस्था को प्राप्त करके अर्थात् सिद्ध गति में जाकर (सिद्धे) सिद्ध होते हैं । ऐसा सभी तीर्थंकरों ने (परिकहेइ) कहा है ।

भावार्थः—हे आर्य ! जो आत्मा पाप कर्म उपार्जन करते हैं, वे नरक और तिर्यंच योनियों में जन्म लेते हैं । जो पुण्य उपार्जन करते हैं, वे मनुष्य-जन्म एवं देव-गति में जाते हैं । और जो पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा वनस्पति के जीवों की तथा हिलते-फिरते त्रस जीवों की सम्पूर्ण रक्षा कर अष्ट कर्मों को चूर-चूर कर देने में समर्थ होते हैं, वे आत्मा सिद्धालय में सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं । ऐसा ज्ञानियों ने कहा है ।

मूल:—जह जीवा बज्झंति,
मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति ।
जह दुक्खाणं अंतं,
करेंति केई अपडिबद्धा ॥४॥

छाया:—यथा जीवा बध्यन्ते, मुच्यन्ते यथा च परिक्लिश्यन्ते ।
यथा दुःखानामन्तं कुर्वन्ति केऽपि अप्रतिबद्धाः ॥४॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (केई) कई (जीवा) जीव (बज्झंति) कर्मों से बंधते हैं, वैसे ही (मुच्चंति) मुक्त भी होते हैं (य) और (जह) जैसे कर्मों की वृद्धि होने से (परिकिलिस्संति) महान् कष्ट पाते हैं। वैसे ही (दुक्खाण) दुःखों का (अन्तं) अन्त भी (करेंति) कर डालते हैं। ऐसा (अपडिबद्धा) अप्रतिबद्ध विहारी निर्ग्रन्थों ने कहा है।

भावार्थ:—हे गौतम ! यही आत्मा कर्मों को बाँधता है, और यही कर्मों से मुक्त भी होता है। यही आत्मा कर्मों का गाढ़ लेप करके दुःखी होता है, और सदाचार सेवन से सम्पूर्ण कर्मों को नाश करके मुक्ति के सुखों का सोपान भी यही आत्मा तैयार करता है। ऐसा निर्ग्रन्थों का प्रवचन है।

मूल:—अट्टदुहट्टियचित्ता जह, जीवा दुक्खसागर मुवेंति ।
जह वेरग्गमुवगया, कम्मसमुग्गं विहाडेंति ॥५॥

छाया:—आर्त्तदुःखार्त्त चित्ता यथा जीवा,
दुःजीवा दुःखसागरमुपयान्ति ।
यथा वैराग्यमुपगता,
कर्मसमुद्गं विघाटयन्ति ॥५॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! जो (जीवा) जीव वैराग्य भाव से रहित हैं वे (अट्टदुहट्टियचित्ता) आर्त रौद्र ध्यान से युक्त चित्त वाले हो (जह) जैसे (दुक्खसागरं) दुःख सागर को (उवेंति) प्राप्त होते हैं। वैसे ही (वेरग्गं) वैराग्य को (उवगया) प्राप्त हुए जीव (कम्मसमुग्गं) कर्म समूह को (विहाडेंति) नष्ट कर डालते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो आत्मा वैराग्य अवस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं, सांसारिक भोगों में फँसे हुए हैं, वे आर्त्त रौद्र ध्यान को ध्याते हुए मानसिक कुभावनाओं के द्वारा अनिष्ट कर्मों का संचय करते हैं ! और जन्म-जन्मान्तर के लिये दुःख सागर में गोता लगाते हैं। किन्तु आत्माओं की रग-रग में वैराग्य रस भरा पड़ा है, वे सदाचार के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को बात की बात में नष्ट कर डालते हैं।

मूलः—जह रागेण कडाणं कम्माणं, पावगो फलविवागो ।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ॥६॥

छायाः—यथा रागेण कृतानां कर्मणाम्, पापकःफलविपाकः ।
यथा च परिहीणकर्मा, सिद्धाःसिद्धालयमुपयान्ति ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे यह जीव (रागेण) राग-द्वेष के द्वारा (कडाणं) किये हुए (पावगो) पाप (कम्माणं) कर्मों के (फलविवागो) फलोदय को भोगता है। वैसे ही शुभ कर्मों के द्वारा (परिहीणकम्मा) कर्मों को नष्ट करने वाले जीव (सिद्धा) सिद्ध होकर (सिद्धालयं) सिद्धस्थान को (उवेंति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थः—हे आर्य ! जिस प्रकार यह आत्मा राग-द्वेष करके कर्म उपार्जन कर लेता है और उन कर्मों के उदय काल में उनका फल भी चखता है वैसे ही सदाचारों से जन्म-जन्मान्तरों के कृत कर्मों को सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर डालता है। और फिर वही सिद्ध हो कर सिद्धालय को भी प्राप्त हो जाता है।

मूलः—आलोयण निरवलावे, आवईसु दड्ढधम्मया ।
अणिस्सिओवहाणे य, सिक्खा निप्पडिकम्मया ॥७॥

छायाः—आलोचना निरपलापा, आपत्सु सुदृढ़धर्मता ।
अनिश्रितोपधानश्च, शिक्षा निःप्रतिकर्मता ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (आलोयण) आलोचना करना (निरवलावे) की हुई आलोचना अन्य के सम्मुख नहीं करना (आवईसु) आपदा आने पर

भी (दड्ढधम्मया) धर्म में दृढ़ रहना (अणिस्सिओवहाणे) बिना किसी चाह के उपधान तप करना (सिक्खा) शिक्षा ग्रहण करना (य) और (निप्पडिकम्मया) शरीर की शुश्रूषा नहीं करना।

भावार्थः—हे गौतम! जानते में या अजानते में किसी भी प्रकार दोषों का सेवन कर लिया हो, तो उसको अपने आचार्य के सम्मुख प्रकट करना और आचार्य उसके प्रायश्चित रूप में जो भी दण्ड दें उसे सहर्ष ग्रहण कर लेना, अपनी श्रेष्ठता बताने के लिए पुनः उस बात को दूसरों के सम्मुख नहीं कहना और अनेक आपदाओं के बादल क्यों न उमड़ आवें मगर धर्म से एक पैर भी पीछे न हटना चाहिए। ऐहिक और पारलौकिक पौद्गलिक सुखों की इच्छा रहित उपधान तप व्रत करना, सूत्रार्थ ग्रहण रूप शिक्षा धारण करना, और कामभोगों के निमित्त शरीर की शुश्रूषा भूल कर भी नहीं करना चाहिये।

मूलः—अण्णायया अलोभे य, तितिक्खा अज्जवे सुई।
सम्मदिट्ठी समाही य, आयारे विणओवए ॥८॥

छायाः—अज्ञातता अलोभश्च, तितिक्षा आर्जवः शुचिः।
सम्यग्दृष्टिः समाधिश्च आचारोविनयोपेतः ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (अण्णायया) दूसरों को कहे बिना ही तप करना (अलोभे) लोभ नहीं करना (तितिक्खा) परीषहों को सहन करना (अज्जवे) निष्कपट रहना (सुई) सत्य से शुचिता रखना (सम्मदिट्ठी) श्रद्धा को शुद्ध रखना (य) और (समाही) स्वस्थचित्त रहना (आयारे) सदाचारी होकर कपट न करना (विणओवए) विनयी होकर कपट न करना।

भावार्थः—हे गौतम! तप व्रत धारण करके यश के लिए दूसरों को न कहना, इच्छित वस्तु पाकर उस पर लोभ न करना, दंश-मशकादिकों का परिषह उत्पन्न हो तो उसे सहर्ष सहन करना, निष्कपटतापूर्वक अपना सारा व्यवहार रखना, सत्य संयम द्वारा शुचिता रखना, श्रद्धा में विपरीतता न आने देना, स्वस्थचित्त हो कर अपना जीवन बिताना, आचारवान हो कर कपट न करना और विनयी होना।

मूलः—धिईमई य संवेगे, पणिहि सुविहि संवरे।
अत्तदोसोवसंहारे, सव्वकामविरत्तया ॥९॥

छायाः—धृतिमतिश्च संवेगः प्रणिधिः सुविधिः संवर ।
आत्म दोषापसंहारः सर्वकामविरक्तता ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (धिईमई) अदीनवृत्ति से रहना, (संवेगे) संसार से विरक्त हो कर रहना, (पणिहि) कायादि के अशुभ योगों को रोकना, (सुविहि) सदाचार का सेवन करना । (संवरे) पापों के कारणों को रोकना, (अत्तदोसोवसंहारे) अपनी आत्मा के दोषों का संहार करना, (य) और (सव्वकामविरत्तया) सर्व कामनाओं से विरत रहना ।

भावार्थः—हे गौतम ! दीन-हीन वृत्ति से सदा विमुख रहना, संसार के विषयों से उदासीन हो कर मोक्ष की इच्छा को हृदय में धारण करना, मन-वचन-काया के अशुभ व्यापारों को रोक रखना, सदाचार सेवन में रत रहना, हिंसा, झूंठ, चोरी, संग, ममत्व के द्वारा आते हुए पापों को रोकना, आत्मा के दोषों को ढूंढ-ढूंढ कर संहार करना, और सब तरह की इच्छाओं से अलग रहना ।

मूलः—पच्चक्खाणे विउस्सग्गे, अप्पमादे लवालवे ।
ज्झाणसंवरजोगे य, उदए मारणंतिए ॥१०॥

छायाः—प्रत्याख्यानं व्युत्सर्गः, अप्रमादो लवालवः ।
ध्यानसंवर योगाश्च, उदये मारणान्तिके ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पच्चक्खाणे) त्यागों की वृद्धि करना (विउस्सग्गे) उपाधि से रहित होना, (अप्पमादे) प्रमाद रहित रहना (लवालवे) अनुष्ठान करते रहना (ज्झाण) ध्यान करना (संवरजोगे) संवर का व्यापार करना, (य) और (मारणंतिए) मारणांतिक कष्ट (उदए) उदय होने पर भी क्षोभ नहीं करना ।

भावार्थः—हे गौतम ! त्याग धर्म की वृद्धि करते रहना, उपाधि से रहित होना, गर्व का परित्याग करना, क्षणमात्र के लिए भी प्रमाद न करना, सदैव अनुष्ठान करते रहना, सिद्धान्तों के गंभीर आशयों पर विचार करते रहना, कर्मों के निरोध रूप संवर की प्राप्ति करना और मृत्यु भी यदि सामने आ खड़ी हो तब भी क्षोभ न करना ।

मूलः—संगाणं य परिण्णाया, पायच्छित्त करणे वि य ।
आराहणा य मरणंते, बत्तीसं जोगसंगहा ॥११॥

छायाः—सङ्गानाञ्च परिज्ञेया प्रायश्चित्तकरणमपि च ।
आराधना च मरणान्ते, द्वात्रिंशतिः योग संग्रहाः ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (संगाणं) संभोगों के परिणाम को (परिण्णाया) जान कर उनका त्याग करना (य) और (पायच्छित्त करणे) प्रायश्चित करना (आराहणा य मरणंते) आराधक हो समाधिमरण से मरना, ये (बत्तीसं) बत्तीस (जोगसंगहा) योग संग्रह हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! स्वजनादि संग रूप स्नेह के परिणाम को समझ कर उसका परित्याग करना । भूल से गलती हो जावे तो उसके लिए प्रायश्चित करना, संयमी जीवन को सार्थक कर समाधि से मृत्यु लेना, ये बत्तीस शिक्षाएँ योग-बल को बढ़ाने वाली है । अतः इन बत्तीस शिक्षाओं का अपने जीवन के साथ सम्बन्ध कर लेना मानो मुक्ति को वर लेना है ।

मूलः—अरहंतसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुएतवस्सीसु ।
वच्छल्लया यसिं अभिक्खणाणोवओगे य ॥१२॥

छायाः—अर्हत्सिद्धप्रवचनगुरुस्थविर बहुश्रुतेषु तपस्विषु ।
वत्सलता तेषां अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगश्च ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अरहंत) तीर्थंकर (सिद्ध) सिद्ध (पवयण) आगम (गुरु) गुरु महाराज (थेर) स्थविर (बहुस्सुए) बहुश्रुत (तवस्सीसु) तपस्वी में (वच्छल्लया) वात्सल्य भाव रखता हो, (यसि) उनका गुण कीर्तन करता हो, (य) और (अभिक्ख) सदैव (णाणोवओगे) ज्ञान में जो उपयोग रक्खे ।

भावार्थः—हे गौतम ! जो रागादि दोषों से रहित हैं, जिन्होंने घनघाती कर्मों को जीत लिया है, वे अरिहंत हैं । जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मों को जीत लिया है, वे सिद्ध हैं । अहिंसामय सिद्धान्त और पंच महाव्रतों को पालने वाले गुरु हैं । इनमें और स्थविर, बहुश्रुत, तपस्वी इन सभी में वात्सल्य भाव रखता हो, इनके गुणों का हर जगह प्रसार करता हो और इसी तरह ज्ञान के ध्यान में सदा लीन रहता हो ।

मूलः—दंसणविणए आवस्सएय, सीलव्वए निरइयारो ।
खणलवतवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥१३॥

छायाः—दर्शनविनय आवश्यकः शीलव्रतं निरतिचारं ।
क्षणलवस्तपस्त्यागः वैयावृत्यं समाधिश्च ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (दंसण) शुद्ध श्रद्धा रखता हो (विणए) विनयी हो (आवस्सए) आवश्यक-प्रतिक्रमण दोनों समय करता हो, (निरइयारो) दोषरहित (सीलव्वए) शील और व्रत को जो पालता हो, (खणलव) अच्छा ध्यान ध्याता हो अर्थात् सुपात्र को दान देने की भावना रखता हो (तव) तप करता हो (च्चियाए) त्याग करता हो, (वेयावच्चे) सेवा भाव रखता हो (य) और (समाही) स्वस्थचित्त से रहता हो ।

भावार्थः—हे गौतम ! जो शुद्ध श्रद्धा का अवलम्बी हो, नम्रता ने जिसके हृदय में निवास कर लिया हो, दोनों समय—संध्या और सुबह अपने पापों की आलोचना रूप प्रतिक्रमण को जो करता हो, निर्दोष शील व्रत को जो पालता हो, आर्त्त रौद्र ध्यान को अपनी ओर झाँकने तक न देता हो, अनशन व्रत का जो व्रती हो, या नियमित रूप से कम खाता हो, मिष्टान्न आदि का परित्याग करता हो, आदि इन बारह प्रकार के तपों में से कोई भी तप जो करता हो, सुपात्र दान देता हो, जो सेवा भाव में अपना शरीर अर्पण कर चुका हो, और सदैव चिन्ता रहित जो रहता हो ।

मूलः—अप्पुव्वणाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीओ ॥१४॥

छायाः—अपूर्वज्ञानग्रहणं, श्रुतभक्तिः प्रवचनप्रभावनया ।
एतैः कारणैस्तीर्थंकरत्वं लभते जीवः ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! जो (अप्पुव्वणाणगहणे) अपूर्व ज्ञान को ग्रहण करता हो (सुयभत्ती) सूत्र शास्त्रों को आदर की दृष्टि से देखता हो, (पवयणे) निर्ग्रन्थ प्रवचन की (पभावणया) प्रभावना करता हो, (एएहिं) इन (कारणेहिं) सम्पूर्ण कारणों से (जीओ) जीव (तित्थयरत्तं) तीर्थंकरत्व को (लहइ) प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थः—हे आर्य ! आये दिन कुछ न कुछ नवीन ज्ञान को जो ग्रहण करता रहता हो, सूत्र के सिद्धान्तों को आदर-भावों से जो अपनाता हो, जिन शासन की प्रभावना उन्नति के लिए नये-नये उपाय जो ढूंढ निकालता हो, इन्हीं कारणों में से किसी एक बात का भी प्रगाढ़ रूप से सेवन जो करता हो, वह फिर चाहे किसी भी जाति व कौम का क्यों न हो, भविष्य में तीर्थंकर होता है।

मूलः—पाणाइवायमलियं, चोरिक्कं मेहुणं दवियमुच्छं ।
कोहं माणं मायं, लोभं पेज्जं तहा दोसं ॥१५॥
कलहं अब्भक्खाणं, पेसुन्नं रइअरइसमाउत्तं ।
परपरिवायं माया, मोसं मिच्छत्तसल्लं च ॥१६॥

छायाः—प्राणातिपातमलीकं चौर्यं मैथुनं द्रव्यमूर्च्छाम् ।
क्रोधं मानं मायां लोभं प्रेम तथा द्वेषम् ॥१५॥
कलहमभ्याख्यानं पैशुन्यं रत्यरती सम्यगुक्तम् ।
परपरिवादं मायामृषा मिथ्यात्वशल्यं च ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पाणाइवायं) प्राणातिपात-हिंसा (अलियं) झूंठ (चोरिक्कं) चोरी (मेहुणं) मैथुन (दवियमुच्छं) द्रव्य में मूर्छा (कोहं) क्रोध (माणं) मान (मायं) माया (लोभं) लोभ (पेज्जं) राग (तहा) तथा (दोसं) द्वेष (कलहं) लड़ाई (अब्भक्खाणं) कलंक (पेसुन्नं) चुगली (परपरिवायं) परापवाद (रइअरइ) अधर्म में आनंद और धर्म में अप्रसन्नता (मायमोसं) कपट युक्त झूंठ (च) और (मिच्छत्तसल्लं) मिथ्यात्व रूप शल्य, इस प्रकार अठारह पापों का स्वरूप ज्ञानियों ने (समाउत्तं) अच्छी तरह कहा है।

भावार्थः—हे गौतम ! प्राणियों के दश प्राणों में से किसी भी प्राण को हनन करना, मन-वचन-काया से दूसरों के मन तक को भी दुखाना, हिंसा है। इस हिंसा से यह आत्मा मलीन होता है। इसी तरह झूंठ बोलने से, चोरी करने से, मैथुन सेवन से, वस्तु पर मूर्छा रखने से, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष करने से, और परस्पर लड़ाई-झगड़ा करने से, किसी निर्दोष पर कलंक का आरोप करने से, किसी की चुगली खाने से, दूसरों के अवगुणा-

वाद बोलने से, और इसी तरह अधर्म में प्रसन्नता रखने से और धर्म में अप्रसन्नता दिखाने से, दूसरों को ठगने के लिये कपटपूर्वक झूंठ का व्यवहार करने से, और मिथ्यात्व रूप शल्य के द्वारा पीड़ित रहने से, अर्थात् कुदेव कुगुरु, कुधर्म के मानने से, आदि इन्हीं अठारह प्रकार के पापों से जकड़ी हुई यह आत्मा नाना प्रकार के दुःख उठाती हुई, चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करती रहती है।

मूलः—अज्झवसाणनिमित्तो, आहारे वेयणापराघाते।
फासे आणापाणू, सत्तविहं झिझए आउं ॥१७॥

छायाः—अध्यवसाननिमित्ते आहारः वेदना पराघातः।
स्पर्श आनप्राणः सप्तविधं क्षियते आयु ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (आउं) आयु (सत्तविहं) सात प्रकार से (झिझए) टूटता है। (अज्झवसाणनिमित्ते) भयात्मक अध्यवसाय और दण्ड लकड़ी कशा चाबुक शस्त्र आदि निमित्त (आहारे) अधिक आहार (वेयणा) शारीरिक वेदना (पराघाते) खड्डे आदि में गिरने के निमित्त (फासे) सर्पादिक का स्पर्श (आणापाणू) उच्छ्वास निश्वास का रोकना आदि कारणों से आयु का क्षय होता है।

भावार्थः—हे आर्य ! सात कारणों से आयु अकाल में ही क्षीण होती है। वे यों हैं:—राग, स्नेह, भयपूर्वक अध्यवसाय के आने से, दंड (लकड़ी) कशा (चाबुक) शस्त्र आदि के प्रयोग से, अधिक भोजन खा लेने से, नेत्र आदि की अधिक व्याधि होने से, खड्डे आदि में गिर जाने से, और उच्छ्वास निश्वास के रोक देने से।

मूलः—जह मिउलेवालित्तं, गरुयं तुंबं अहो वयइ एवं।
आसवकयकम्मगुरू, जीवा वच्चंति अहरगइं ॥१८॥

छायाः—यथा मृल्लेपालिप्तं गुरुं तुम्बं अधोव्रजत्येवं।
आस्रवकायकर्मगुरवो जीवा व्रजन्त्यधोगतिम् ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (मिउलेवालित्तं) मिट्टी के लेप से लिपटा हुआ वह (गरुयं) भारी (तुवं) तूंबा (अहो) नीचा (वयइ) जाता है। (एवं) इसी तरह (आसवकयकम्मगुरू) आस्रव कृत कर्मों द्वारा भारी हुआ (जीवा) जीव (अहरगइं) अधोगति को (वच्चंति) जाते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जैसे मिट्टी का लेप लगने से तूंबा भारी हो जाता है, अगर उसको पानी पर रख दिया जाय तो वह उसकी तह तक नीचा ही चला जायगा ऊपर नहीं उठेगा। इसी तरह हिंसा, झूंठ, चोरी, मैथुन और मूर्च्छा आदि आस्रव-रूप कर्म कर लेने से, यह आत्मा भी भारी हो जाता है। और यही कारण है कि तब यह आत्मा अधोगति को अपना स्थान बना लेता है।

मूलः—तं चेव तव्विमुक्कं, जलोवरिं ठाइ जायलहुभावं।
जह तह कम्मविमुक्का, लोयग्गपइट्ठिया होंति ॥१९॥

छायाः—स चैव तद्विमुक्तः जलोपरि तिष्ठति जातलघुभावः।
यथा तथा कर्मविमुक्ता लोकाग्रप्रतिष्ठिता भवन्ति ॥१९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (तं चेव) वही तूंबा (तव्विमुक्कं) उस मिट्टी के लेप से मुक्त होने पर (जायलहुभावं) हलका हो जाता है, तब (जलोवरिं) जल के ऊपर (ठाइ) ठहरा रह सकता है। (तह) उसी प्रकार (कम्मविमुक्का) कर्म से मुक्त हुए जीव (लोयग्गपइट्ठिया) लोक के अग्रभाग पर स्थित (होंति) होते हैं।

भावार्थः— हे गौतम ! मिट्टी के लेप से मुक्त होने पर वही तूंबा जैसे पानी के ऊपर आ जाता है, वैसे ही आत्मा भी कर्म रूपी बन्धनों से सम्पूर्ण प्रकार से मुक्त हो जाने पर लोक के अग्र भाग पर जाकर स्थित हो जाता है। फिर इस दुःखमय संसार में उसको चक्कर नहीं लगाना पड़ता।

॥ श्रीगौतमउवाच ॥

मूलः—कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहं आसे ? कहं सए।
कहं भुंजंतो ? भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥२०॥

छाया:—कथञ्चरेत् ? कथं तिष्ठेत् ? कथमासीत् कथं शयीत् ।
कथं भुञ्जानो भाषमाणः पापं कर्म न बध्नाति ॥२०॥

अन्वयार्थः—हे प्रभु ! (कहं) कैसे (चरे) चलना ? (कहं) कैसे (चिट्ठे) ठहरना ? (कहं) कैसे (आसे) बैठना ? (कहं) कैसे (सए) सोना ? जिससे (पावं) पाप (कम्मं) कर्म (न) नहीं (बंधई) बँधते, और (कहं) किस प्रकार (भुंजंतो) खाते हुए, एवं (भासंतो) बोलते हुए पाप कर्म नहीं बँधते ।

भावार्थः—हे प्रभु ! कृपा करके इस सेवक के लिए फरमावें कि किस तरह चलना, खड़े रहना, बैठना, सोना, खाना और बोलना चाहिए जिससे इस आत्मा पर पाप कर्मों का लेप न चढ़ने पावे ।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं आसे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ॥२१॥

छाया:—यतं चरेत् यतं तिष्ठेत् यतमासीत् यतं शयीत् ।
यतं भुञ्जानो भाषमाणः पापं कर्म न बध्नाति ॥२१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जयं) यत्नापूर्वक (चरे) चलना (जयं) यत्नापूर्वक (चिट्ठे) ठहरना (जयं) यत्नापूर्वक (आसे) बैठना (जयं) यत्नापूर्वक (सए) सोना, जिससे (पावं) पाप (कम्मं) कर्म (न) नहीं (बंधई) बँधता है। इसी तरह (जयं) यत्नापूर्वक (भुंजंतो) खाते हुए (भासंतो) और बोलते हुए भी पाप कर्म नहीं बँधते ।

भावार्थः—हे गौतम ! हिंसा, झूठ, चोरी आदि का जिसमें तनिक भी व्यापार न हो ऐसी सावधानी को यत्ना कहते हैं । यत्नापूर्वक चलने से, खड़े रहने से, बैठने से और सोने से पाप कर्मों का बंधन इस आत्मा पर नहीं होता है । इसी तरह यत्नापूर्वक भोजन करते हुए और बोलते हुए भी पाप कर्मों का बंध नहीं होता है । अतएव, हे आर्य ! तू अपनी दिन-चर्या को खूब ही सावधानी पूर्वक बना, जिससे आत्मा अपने कर्मों के द्वारा मारी न हो ।

मूलः—पच्छा वि ते पयाया
खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जेसिं पियो तवो संजमो
य खंती य बम्भचेरं च ॥२२॥

छायाः—पश्चादपि ते प्रयाताः
क्षिप्रं गच्छन्त्यमर भवनानि ।
येषां प्रियं तपः संयमश्च
शान्तिश्च ब्रह्मचर्यं च ॥२२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पच्छा वि) पीछे भी अर्थात् वृद्धावस्था में (ते) वे मनुष्य (पयाया) सन्मार्ग को प्राप्त हुए हों (य) और (जेसिं) जिस को (तवो) तप (संजमो) संयम (य) और (खंती) क्षमा (चें) और (बम्भचेरं) ब्रह्मचर्य (पियो) प्रिय है, वे (खिप्पं) शीघ्र (अमरभवणाइं) देव-भवनों को (गच्छंति) जाते हैं ।

भावार्थः—हे आर्य ! जो धर्म की उपेक्षा करते हुए वृद्धावस्था तक पहुँच गये हैं उन्हें भी हताश न होना चाहिए । अगर उस अवस्था में भी वे सदाचार को प्राप्त हो जायँ, और तप, संयम, क्षमा, ब्रह्मचर्य को अपना लाड़ला साथी बना लें, तो वे लोग देवलोक को प्राप्त हो सकते हैं ।

मूलः—तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मेहा संजम जोगसंती,
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥२३॥

छायाः—तपो ज्योतिर्जीवोज्यातिः स्थानं
योगाः स्रुचः शरीरं करीषाङ्गम् ।
कर्मेधाः संयमयोगाः शान्तिहोंमेन
जुहोम्यृषिणा प्रशस्तेन ॥२३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तवो) तप रूप तो (जोई) अग्नि (जीवो) जीव रूप (जोइठाणं) अग्नि का स्थान (जोगा) योग रूप (सुया) कड़छी (सरीरं) शरीर रूप (कारिसंगं) कण्डे (कम्मेहा) कर्म रूप ईंधन-काष्ठ (संजम जोग) संयम व्यापार रूप (संती) शांति-पाठ है। इस प्रकार का (इसिणं) ऋषियों से (पसत्थं) श्लाघनीय चारित्र रूप (होमं) होम को (हुणामि) करता हूँ।

भावार्थः—हे गौतम ! तप रूप जो अग्नि है, वह कर्म रूप ईंधन को भस्म करती है। जीव अग्नि का कुण्ड है। क्योंकि तप रूप अग्नि जीव संबंधिनी ही है एतदर्थ जीव ही अग्नि रखने का कुण्ड हुआ। जिस प्रकार कड़छी से घी आदि पदार्थों को डाल कर अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। ठीक उसी प्रकार मन, वचन और काया के शुभ व्यापारों के द्वारा तप रूप अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए। परन्तु शरीर के बिना तप नहीं हो सकता है। इसीलिये शरीर रूप कण्डे, कर्म रूप ईंधन और संयम व्यापार रूप शान्ति पाठ पढ़ करके, मैं इस प्रकार ऋषियों के द्वारा प्रशंसनीय चारित्र साधन रूप यज्ञ को प्रतिदिन करता रहता हूँ।

मूलः—धम्मे हरए बंभे संतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिं सिण्णाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीतिभूओ पजहामि दोसं ॥२४॥

छायाः—धर्मो ह्रदो ब्रह्म शान्तितीर्थ-
मनाविल आत्मप्रसन्नलेश्यः।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः
सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम् ॥२४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अणाविले) मिथ्यात्व करके रहित स्वच्छ (अत्तपसन्नलेसे) आत्मा के लिए प्रशंसनीय और अच्छी भावनाओं को उत्पन्न करने वाला ऐसा जो (धम्मे) धर्म रूप (हरए) द्रह और (बंभे) ब्रह्मचर्य रूप (संतितित्थे) शान्तितीर्थ है। (जहिं) उस में (सिण्णाओ) स्नान करने से तथा

उस तीर्थ में आत्मा के पर्यटन करते रहने से (विमलो) निर्मल (विसुद्धो) शुद्ध और (सुसीतिभूओ) राग-द्वेषादि से रहित वह हो जाता है। उसी तरह मैं भी उस ब्रह्म और तीर्थ का सेवन करके (दोसं) अपनी आत्मा को दूषित करे, उस कर्म को (पजहामि) अत्यन्त दूर करता हूँ।

भावार्थः—हे आर्य ! मिथ्यात्वादि पापों से रहित और आत्मा के लिए प्रशंसनीय एवं उच्च भावनाओं को प्रगट करने में सहाय्यभूत ऐसा, जो स्वच्छ धर्म रूप ब्रह्म है उसमें इस आत्मा को स्नान कराने से, तथा ब्रह्मचर्य रूप शान्ति-तीर्थ की यात्रा करने से शुद्ध निर्मल और रागद्वेषादि से रहित यह हो जाता है। अतः मैं भी धर्म रूप ब्रह्म और ब्रह्मचर्य रूप तीर्थ का सेवन करके आत्मा को दूषित करने वाले अशुभ कर्मों को सांगोपांग त्याग कर रहा हूँ। बस, यह आत्म-शुद्धि का स्नान और उसकी तीर्थ-यात्रा है।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(पाँचवाँ अध्याय)

ज्ञान प्रकरण

(श्री भगवानुवाच)

मूल:—तत्थ पंचविहं नाणं, सुअं अभिणिबोहिअं ।
ओहिणाणं च तइअं, मणणाणं च केवलं ॥१॥

छाया:—तत्र पञ्चविधं ज्ञानं, श्रुतमाभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञानं च तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ॥१॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति (तत्थ) ज्ञान के सम्बन्ध में (नाणं) ज्ञान (पंचविहं) पाँच प्रकार का है, वह यों है :—(सुअं) श्रुत (अभिणिबोहिअं) मति (तइअं) तीसरा (ओहिणाणं) अवधिज्ञान (च) और (मणणाणं) मनःपर्यवज्ञान (च) और पाँचवाँ (केवलं) केवलज्ञान है ।

भावार्थ:—हे आर्य ! ज्ञान पाँच प्रकार का होता है, वे पाँच प्रकार यों हैं :—(१) मतिज्ञान के द्वारा श्रवण करते रहने से पदार्थ का जो स्पष्ट भेदाभेद ज्ञान पड़ता है वह **श्रुतज्ञान**[1] है । (२) पाँचों इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है वह **मतिज्ञान** कहलाता है । (३) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की

---

१ नंदीसूत्र में श्रुतज्ञान का दूसरा नम्बर है । परन्तु उत्तराध्ययन सूत्र में श्रुतज्ञान को पहला नम्बर दिया गया है । इसका तात्पर्य यों है कि पाँचों ज्ञानों में श्रुत-ज्ञान विशेष उपकारी है । इसलिए यहाँ श्रुतज्ञान को पहले ग्रहण किया है ।

मर्यादा पूर्वक रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानना यह **अवधिज्ञान** है। (४) दूसरों के हृदय में स्थित भावों को प्रत्यक्ष रूप से जान लेना **मनःपर्यवज्ञान** है। और (५) त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तरेखावत् जान लेना **केवलज्ञान** कहलाता है

मूल:—अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं।
सासयमप्पडिवाई एगविहं केवलं नाणं ॥२॥

छाया:— अथ सर्वद्रव्यपरिणाम भावविज्ञप्ति कारणमनन्तम्।
शाश्वतमप्रतिपाति च, एकविधं केवलं ज्ञानम् ॥२॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति! (केवलं) कैवल्य (नाणं) ज्ञान (एगविहं) एक प्रकार का है। (सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणं) सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति, ध्रौव्य, नाश और उनके गुणों का विज्ञान कराने में कारणभूत है। इसी प्रकार (अणंतं) ज्ञेय पदार्थों की अपेक्षा से अनंत है, एवं (सासयं) शाश्वत और (अप्पडिवाई) अप्रतिपाती है।

भावार्थ:—हे गौतम! कैवल्य ज्ञान का एक ही भेद है। और वह सर्व द्रव्य मात्र के उत्पत्ति, विनाश, ध्रुवता और उनके गुणों एवं पारस्परिक पदार्थों की भिन्नता का विज्ञान कराने में कारणभूत है। इसी प्रकार ज्ञेय पदार्थ अनंत होने से इसे अनंत भी कहते हैं और यह शाश्वत भी है। केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् पुनः नष्ट नहीं होता है इसलिए यह अप्रतिपाती भी है।

मूल:—एयं पंचविहं णाणं, दव्वाण य गुणाण य।
पज्जवाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहि देसियं ॥३॥

छाया:—एतत् पञ्चविधं ज्ञानम्, द्रव्याणाम् च गुणानांच।
पर्यवाणां च सर्वेषां, ज्ञानं ज्ञानिभिर्देशितम् ॥३॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति! (एयं) यह (पंचविहं) पाँच प्रकार का (नाणं) ज्ञान (सव्वेसिं) सर्व (दव्वाणं) द्रव्य (य) और (गुणाण) गुण (य) और (पज्जवाणं) पर्यायों को (नाणं) जानने वाला है, ऐसा (नाणीहि) तीर्थंकरों द्वारा (देसियं) कहा गया है।

भावार्थः—हे गौतम ! संसार में ऐसा कोई भी द्रव्य, गुण या पर्याय नहीं है जो इन पांच ज्ञानों से न जाना जा सके। प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ यथायोग्य रूप से किसी न किसी ज्ञान का विषय होता ही है। ऐसा सभी तीर्थंकरों ने कहा है।

मूलः—पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही किं वा, नाहिइ छेयपावगं ॥४॥

छायाः—प्रथमं ज्ञानं ततो दया, एवं तिष्ठति सर्व संयतः।
अज्ञानी किं करिष्यति, किं वा ज्ञास्यति श्रेयः पापकम् ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पढमं) पहले (नाणं) ज्ञान (तओ) फिर (दया) जीव रक्षा (एवं) इस प्रकार (सव्वसंजए) सब साधु (चिट्ठइ) रहते हैं। (अन्नाणी) अज्ञानी (किं) क्या (काही) क्या करेगा ? (वा) और (किं) कैसे वह अज्ञानी (छेय पावगं) श्रेयस्कर और पापमय मार्ग को (नाहिइ) जानेगा ?

भावार्थः— हे गौतम ! पहले जीव रक्षा संबंधी ज्ञान की आवश्यकता है। क्योंकि, बिना ज्ञान के जीव-रक्षा रूप क्रिया का पालन किसी भी प्रकार हो नहीं सकता, पहले ज्ञान होता है, फिर उस विषय में प्रवृत्ति होती है। संयम-शील जीवन बिताने वाला मानव वर्ग भी पहले ज्ञान ही का सम्पादन करता है, फिर जीव रक्षा के लिए कटिबद्ध होता है। सच है, जिनको कुछ भी ज्ञान नहीं है, वे क्या तो दया का पालन करेंगे ? और क्या हिताहित ही को पहचानेंगे ? इसलिए सबसे पहले ज्ञान का सम्पादन करना आवश्यकीय है। यहाँ 'दया' शब्द उपलक्षण है, इसलिए उससे प्रत्येक क्रिया का अर्थ समझना चाहिए।

मूलः—सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणई सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥५॥

छायाः—श्रुत्वा जानाति कल्याणं, श्रुत्वा जानाति पापकम्।
उभयेऽपि जानाति श्रुत्वा, यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत् ॥५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सोच्चा) सुन कर (कल्लाणं) कल्याणकारी मार्ग को (जाणइ) जानता है, और (सोच्चा) सुनकर (पावगं) पापमय मार्ग

को (जाणइ) जानता है। (उभयं पि) और दोनों को भी (सोच्चा) सुनकर (जाणई) जानता है। (जं) जो (छेयं) अच्छा हो (तं) उसको (समायरे) अंगीकार करे।

भावार्थः—हे गौतम! सुनने से हित-अहित, मंगल-अमंगल, पुण्य और पाप का बोध होता है। और बोध हो जाने पर यह आत्मा अपने आप श्रेयस्कर मार्ग को अंगीकार कर लेता है। और इसी मार्ग के आधार पर आखिर में अनंत सुखमय मोक्षधाम को भी यह पा लेता है। इसलिए महर्षियों ने श्रुतज्ञान ही को प्रथम स्थान दिया है।

मूलः—जहा सूई ससुत्ता, पडिआ वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ ॥६॥

छायाः—यथा सूची ससूत्रा, पतिताऽपि न विनश्यते।
तथा जीवः ससूत्रः, संसारे न विनश्यते ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (ससुत्ता) सूत्र सहित—धागे के साथ (पडिआ) गिरी हुई (सूई) सूई (न) नहीं (विणस्सइ) खोती है। (तहा) उसी तरह (ससुत्ता) सूत्र श्रुत-ज्ञान सहित (जीवे) जीव (संसारे) संसार में (वि) भी (न) नहीं (विणस्सइ) नाश होता है।

भावार्थः—हे गौतम! जिस प्रकार धागे वाली सुई गिर जाने पर भी खो नहीं सकती, अर्थात् पुनः शीघ्र मिल जाती है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान संयुक्त आत्मा कदाचित् मिथ्यात्वादि अशुभ कर्मोदय से सम्यक्त्व धर्म से च्युत हो भी जाय तो वह आत्मा पुनः रत्नत्रय रूप धर्म को शीघ्रता से प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त श्रुतज्ञानवान् आत्मा संसार में रहते हुए भी दुःखी नहीं होता अर्थात् समता और शान्ति से अपना जीवन व्यतीत करता है।

मूलः—जावंतऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए ॥७॥

छायाः—यावन्तोऽविद्यापुरुषाः, सर्वे ते दुःखसंभवाः।
लुप्यन्ते बहुशो मूढाः, संसारे अनन्तके ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जावंत) जितने (अविज्जा) तत्त्वज्ञान रहित (पुरिसा) मनुष्य हैं (ते) वे (सव्वे) सब (दुक्खसम्भवा) दुःख उत्पन्न होने के स्थान रूप हैं। इसी से वे (मूढा) मूर्ख (अणंतए) अनंत (संसारम्मि) संसार में (बहुसो) अनेकों बार (लुप्पंति) पीड़ित होते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! तत्त्वज्ञान से हीन जितने भी आत्मा हैं, वे सबके सब अनेकों दुःखों के भागी हैं। इस अनंत संसार की चक्र फेरी में परिभ्रमण करते हुए वे नाना प्रकार के दुःखों को उठाते हैं। उन आत्माओं का क्षणभर के लिए भी अपने कृत कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता है। हे गौतम ! इस कदर ज्ञान की मुख्यता बताने पर तुझे यों न समझ लेना चाहिए कि मुक्ति केवल ज्ञान ही से होती है बल्कि उसके साथ क्रिया की भी जरूरत है। ज्ञान और क्रिया इन दोनों के होने पर ही मुक्ति हो सकती है।

मूलः—इहमेगे उ मण्णंति, अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरिअं विदित्ताणं, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥८॥

छायाः—इहैके तु मन्यन्ते अप्रत्याख्याय पापकम्।
आर्यत्वं विदित्वा, सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यन्त ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (उ) फिर इस विषय में (इह) यहाँ (मेगे) कई एक मनुष्य यों (मण्णंति) मानते हैं कि (पावगं) पाप का (अप्पच्चक्खाय) बिना त्याग किये ही केवल (आयरिअं) अनुष्ठान को (विदित्ताणं) जान लेने ही से (सव्वदुक्खा) सब दुःखों से (विमुच्चई) मुक्त हो जाता है।

भावार्थः—हे आर्य ! कई एक लोग ऐसे भी हैं, जो यह मानते हैं कि पाप के बिना ही त्यागे, अनुष्ठान मात्र को जान लेने से मुक्ति हो जाती है। पर उनका ऐसा मानना नितान्त असंगत है। क्योंकि अनुष्ठान को जान लेने ही से मुक्ति नहीं हो जाती है। मुक्ति तो तभी होगी, जब उस विषय में प्रवृत्ति की जायगी। अतः मुक्ति पथ में ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता होती है। जिसने सद् ज्ञान के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करली है, उसके लिए मुक्ति सचमुच ही अति निकट हो जाती है। अकेले ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है।

मूलः—भणंता अकरिंता य, बंधमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमत्तेणं, समासासंति अप्पयं ॥९॥

छायाः—भणन्तोऽकुर्वन्तश्च, बन्धमोक्ष प्रतिज्ञिनः ।
वाग्वीर्यमात्रेण, समाश्वसन्त्यात्मानम् ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (बंधमोक्खपइण्णिणो) ज्ञान ही को बंध और मोक्ष का कारण मानने वाले, कई एक लोग ज्ञान ही से मुक्ति होती है, ऐसा (भणंता) बोलते हैं। (य) परन्तु (अकरिंता) अनुष्ठान वे नहीं करते। अतः वे लोग (वायाविरियमत्तेणं) इस प्रकार वचन की वीरता मात्र ही से (अप्पयं) आत्मा को (समासासंति) अच्छी तरह आश्वासन देते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! कर्मों का बंधन और शमन एक ज्ञान ही से होता है, ऐसा दावा—प्रतिज्ञा करने वाले कई एक लोग अनुष्ठान की उपेक्षा करके यों बोलते हैं, कि ज्ञान ही से मुक्ति हो जाती है, परन्तु वे एकान्त ज्ञानवादी लोग केवल अपने बोलने की वीरता मात्र ही से अपने आत्मा को विश्वास देते हैं, कि हे आत्मा ! तू कुछ भी चिन्ता मत कर। तू पढ़ा-लिखा है, बस, इसी से कर्मों का मोचन हो जावेगा। तप, जप किसी भी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। हे गौतम ! इस प्रकार आत्मा को आश्वासन देना, मानो आत्मा को धोखा देना है। क्योंकि, ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान करने ही से कर्मों का मोचन होता है। इसीलिए मुक्ति-पथ में ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता होती है।

मूलः—ण चित्ता तायए भासा; कओ विज्जाणुसासणं ।
विसण्णो पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥१०॥

छायाः—न चित्रास्त्रायन्ते भाषाः, कुतो विद्यानुशासनम् ।
विषण्णः पापकर्मभिः, बालाःपण्डितमानिनः ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पंडियमाणिणो) अपने आपको पण्डित मानने वाले (बाला) अज्ञानी जन (पावकम्मेहिं) पाप कर्मों द्वारा (विसण्णा) फँसे हुए यह नहीं जानते हैं कि (चित्ता) विचित्र प्रकार की (भासा) भाषा (तायए)

त्राण-शरण (ण) नहीं होती है। तो फिर (विज्जाणुसासणं) तांत्रिक या कला-कौशल की विद्या सीख लेने पर (कओ) कहाँ से त्राण शरण होगी।

भावार्थः—हे गौतम! थोड़ा-बहुत लिख-पढ़ जाने ही से मुक्ति हो जायगी इस प्रकार का गर्व करने वाले लोग मूर्ख हैं। कर्मों के आवरण ने उनके असली प्रकाश को ढक रखा है। वे यह नहीं जानते कि प्राकृत संस्कृत आदि अनेकों विचित्र भाषाओं के सीख लेने पर भी परलोक में कोई भाषा रक्षक नहीं हो सकती है। तो फिर बिना अनुष्ठान के तांत्रिक कला-कौशल की साधारण विद्या की तो पूछ ही क्या है? वस्तुतः साधारण पढ़-लिखकर यह कहना कि ज्ञान ही से मुक्ति हो जायगी, आत्मा को धोखा देना है, आत्मा को अधोगति में डालना है।

मूलः—जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे अ सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसम्भवा ॥११॥

छायाः—ये केचित् शरीरे सक्ताः, वर्णे रूपे च सर्वशः।
मनसा कायवाक्येन, सर्वे ते दुःखसंभवाः ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जे केइ) जो कोई भी ज्ञानवादी (मणसा) मन (कायवक्केणं) काय, वचन करके (सरीरे) शरीर में (वण्णे) वर्ण में (रूवे) रूप में (अ) शब्दादि में (सव्वसो) सर्वथा प्रकार से (सत्ता) आसक्त रहते हैं (ते) वे (सव्वे) सब (दुक्खसम्भवा) दुःख उत्पन्न होने के स्थान रूप हैं।

भावार्थः—हे गौतम! ज्ञानवादी अनुष्ठान को छोड़ देते हैं। और रूप गर्व में मदोन्मत्त होने वाले अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखने के लिए वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आदि में मन, वचन, काया से पूरे-पूरे आसक्त रहते हैं, फिर भी वे मुक्ति की आशा करते हैं। यह मृग-पिपासा है, अन्ततः ये सब दुःख ही के भागी होते हैं।

मूलः—निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥१२॥

छाया:—निर्ममो निरहङ्कारः, निस्संगस्त्यक्तगौरवः।
समश्च सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! महापुरुष वही है, जो (निम्ममो) ममतारहित (निरहंकारो) अहंकाररहित (निस्संगो) बाह्य अभ्यन्तर संगरहित (अ) और (चत्तगारवो) त्याग दिया है अभिमान को जिसने (सव्वभूएसु) तथा सर्व प्राणी मात्र क्या (तसेसु) त्रस (अ) और (थावरेसु) स्थावर में (समो) समान भाव है जिसका।

भावार्थः—हे गौतम ! महापुरुष वही है जिसने ममता, अहंकार, संग, बड़प्पन आदि सभी का साथ एकान्त रूप से छोड़ दिया है। और जो प्राणी मात्र पर फिर चाहे वह कीड़े-मकोड़े के रूप में हो, या हाथी के रूप में, सभी के ऊपर समभाव रखता है।

मूलः—लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु समो माणावमाणओ ॥१३॥

छाया:—लाभालाभे सुखे दुःखे, जीविते मरणे तथा।
समो निन्दाप्रशंसासु, समो मानापमानयोः ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! महापुरुष वही है जो (लाभालाभे) प्राप्ति-अप्राप्ति में (सुहे) सुख में (दुक्खे) दुःख में (जीविए) जीवन में (मरणे) मरण में (समो) समान भाव रखता है। तथा (निंदापसंसासु) निंदा और प्रशंसा में एवं (माणावमाणओ) मान-अपमान में (समो) समान भाव रखता है।

भावार्थः—हे गौतम ! मानव देहधारियों में उत्तम पुरुष वही है, जो इच्छित अर्थ की प्राप्ति-अप्राप्ति में, सुख-दुःख में, जीवन-मरण में तथा निन्दा और स्तुति में और मान-अपमान में सदा समान भाव रखता है।

मूलः—अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासीचंदणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा ॥१४॥

छाया:—अनिश्चित इह लोके, परलोकेऽनिश्चितः।
वासी चन्दनकल्पश्च, अशनेऽनशने तथा ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (इहं) इस (लोए) लोक में (अणिस्सिओ) अनैश्रित (परलोए) परलोक में (अणिस्सिओ) अनैश्रित (अ) और किसी के द्वारा (वासीचंदणकप्पो) वसूले से छेदने पर या चंदन का विलेपन करने पर और (असणे) भोजन खाने पर (तहा) तथा (अणसणे) अनशन तप, सभी में समान भाव रखता हो, वही महापुरुष है।

भावार्थः—हे गौतम ! मोक्षाधिकारी वे ही मनुष्य हैं, जिन्हें इस लोक के वैभवों और स्वर्गीय सुखों की चाह नहीं होती है। कोई उन्हें वसूले (शस्त्र विशेष) से छेदे या कोई उन पर चन्दन का विलेपन करे, उन्हें भोजन मिले या फाकाकशी करनी पड़े, इन सम्पूर्ण अवस्थाओं में सदा सर्वदा समभाव से रहते हैं।

॥ इति पञ्चमोऽध्याय ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय छट्ठा)

सम्यक् निरूपण

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥१॥

छायाः—अर्हन्तो महदेवाः, यावज्जीवं सुसाधवो गुरवः।
जिन प्रज्ञप्तं तत्त्वं, इति सम्यक्त्वं मया गृहीतम् ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (अरिहंतो) अरिहंत (महदेवो) बड़े देव (सुसाहुणो) सुसाधु (गुरुणो) गुरु और (जिणपण्णत्तं) जिनराज द्वारा प्ररूपित (तत्तं) तत्व को मानना यही सम्यक्त्व है (इअ) इस (सम्मत्तं) सम्यक्त्व को (मए) मैंने (गहियं) ग्रहण किया ऐसी जिसकी बुद्धि है वही सम्यक्त्वधारी है।

भावार्थः—हे गौतम ! कर्म रूप शत्रुओं को नष्ट करके जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है और जो अष्टादश दोषों से रहित हैं वही मेरे देव हैं। पाँच महाव्रतों को यथायोग्य पालन करते हैं वह मेरे गुरु हैं। और वीतराग के कहे हुए तत्त्व ही मेरा धर्म है। ऐसी दृढ़ श्रद्धा को सम्यक्त्व कहते हैं। इस प्रकार के सम्यक्त्व को जिसने हृदयंगम कर लिया है, वही सम्यक्त्वधारी है।

मूलः—परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणा यावि।
वावण्णकुदंसणवज्जणा, य सम्मत्तसद्दहणा ॥२॥

छाया:—परमार्थसंस्तवः सुदृष्टपरमार्थसेवनं वाऽपि ।
व्यापन्नकुदर्शनवर्जनं च सम्यक्त्वश्रद्धानम् ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (परमत्थसंथवो) तात्त्विक पदार्थ का चिन्तवन करना (वा) और (सुदिट्ठपरमत्थसेवणा) अच्छी तरह से देखे हैं तात्त्विक अर्थ जिन्होंने उनकी सेवा शुश्रूषा करना (य) और (अवि) समुच्चय अर्थ में (वावण्ण कुदंसणवज्जणाए) नष्ट हो गया है सम्यक्त्व दर्शन जिसका, और जो दोषों से सहित है दर्शन जिसका, उसकी संगति परित्यागना, यही (सम्मत्तसद्-हणा) सम्यक्त्व की श्रद्धना है ।

भावार्थः—हे गौतम ! फिर जो बारंबार तात्त्विक पदार्थ का चिन्तवन करता है । और जो अच्छी तरह से तात्त्विक अर्थ पर पहुँच गये हैं, उनकी यथा योग्य सेवा शुश्रूषा करता हो, यथा जो सम्यक्त्व दर्शन से पतित हो गये हैं, व जिनका "दर्शन सिद्धान्त" दूषित है, उनकी संगति का त्याग करता हो वही सम्यक्त्वपूर्वक श्रद्धावान् है ।

मूलः—कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिआ ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥३॥

छायाः—कुप्रवचनपाषण्डिनः, सर्वे उन्मार्गप्रस्थिताः ।
सन्मार्गं तु जिनाख्यातं, एष मार्गो ह्युत्तमः ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (कुप्पवयणपासंडी) दूषित वचन कहने वाले (सव्वे) सभी (उम्मग्गपट्ठिआ) उन्मार्ग में चलने वाले होते हैं । (तु) और (जिण-क्खायं) श्री वीतराग का कहा हुआ मार्ग ही (सम्मग्गं) सन्मार्ग है । (एस) यह (मग्गे) मार्ग (हि) निश्चय रूप से (उत्तमे) प्रधान है । ऐसी जिसकी मान्यता है वही सम्यक्त्वपूर्वक श्रद्धावान् है ।

भावार्थः—हे गौतम ! हिंसामय दूषित वचन बोलने वाले हैं वे सभी उन्मार्ग गामी हैं । राग-द्वेष रहित और आप्त पुरुषों का बताया हुआ मार्ग ही सन्मार्ग है । वही मार्ग सब से उत्तम है, प्रधान है, ऐसी जिसकी निश्चयपूर्वक मान्यता है वही सम्यक् श्रद्धावान् है ।

मूल:—तहिआणं तु[1] भावाणं; सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स; सम्मत्तं तं विआहिअं ॥४॥

छाया:—तथ्यानाम् तु भावानाम् सद्भाव उपदेशनम्।
भावेन श्रद्दधतः, सम्यक्त्वं तद् व्याख्यातम् ॥४॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (सब्भावे) सद्भावना वाले के द्वारा कहे हुए (तहिआणं) सत्य (भावाणं) पदार्थों का (उवएसणं) उपदेश (भावेण) भावना से (सद्दहंतस्स तं) श्रद्धापूर्वक वर्तने वाले को (सम्मत्तं) सम्यक्त्वी ऐसा (विआ-हिअं) वीतरागों ने कहा है।

भावार्थ:—हे गौतम ! जिसकी भावना विशुद्ध है उसके द्वारा कहे हुए यथार्थ पदार्थों को जो भावनापूर्वक श्रद्धा के साथ मानता हो, वही सम्यक्त्वी है ऐसा सभी तीर्थंकरों ने कहा है।

मूल:—निस्सग्गुवएसरुई, आणरुई सुत्तबीअरुइमेव।
अभिगमवित्थाररुई, किरियासंखेवधम्मरुई ॥५॥

छाया:—निसर्गोपदेशरुचिः, आज्ञारुचिः सूत्रबीजरुचिरेव।
अभिगमविस्ताररुचिः, क्रियासंक्षेपधर्मरुचिः ॥५॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (निस्सग्गुवएसरुई) बिना उपदेश, स्वभाव से और उपदेश से जो रुचि हो (आणरुई) आज्ञा से रुचि हो (सुत्तबीअरुइमेव) श्रुत श्रवण से एवं एक से अनेक अर्थ निकलते हों वैसे वचन सुनने से रुचि हो (अभिगमवित्थाररुई) विशेष विज्ञान होने पर तथा बहुत विस्तार से सुनने से रुचि हो (किरियासंखेवधम्मरुई) क्रिया करते-करते तथा संक्षेप से या श्रुत धर्म श्रवण से रुचि हो।

भावार्थ:—हे गौतम ! उपदेश श्रवण न करके स्वभाव से ही तत्त्व की रुचि होने पर किसी-किसी को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। किसी को उपदेश सुनने से, किसी को भगवान की इस प्रकार की आज्ञा है, ऐसा सुनने से,

---

१ तुशब्दस्तुपादपूर्त्यर्थः।

सूत्रों के श्रवण करने से, एक शब्द को जो बीज की तरह अनेक अर्थ बताता हो ऐसा वचन सुनने से, विशेष विज्ञान हो जाने से, विस्तारपूर्वक अर्थ सुनने से, धार्मिक अनुष्ठान करने से, संक्षेप अर्थ सुनने से, श्रुत धर्म के मननपूर्वक श्रवण करने से तत्त्वों की रुचि होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

मूल:—नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइअव्वं ।
सम्मत्तचरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥६॥

छाया:—नास्ति चारित्रं सम्यक्त्वविहीनं, दर्शने तु भक्तव्यम् ।
सम्यक्त्व चारित्रे, युगपत् पूर्वं वा सम्यक्त्वम् ॥६॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (सम्मत्तविहूणं) सम्यक्त्व के बिना (चरित्तं) चारित्र (नत्थि) नहीं है (उ) और (दंसणे) दर्शन के होने पर (भइअव्वं) चारित्र भजनीय है। (सम्मत्तचरित्ताइं) सम्यक्त्व और चारित्र (जुगवं) एक साथ भी होते हैं। (व) अथवा (सम्मत्तं) सम्यक्त्व चारित्र के (पुव्वं) पूर्व भी होता है।

भावार्थ:—हे आर्य ! सम्यक्त्व के बिना चारित्र का उदय होता ही नहीं है। पहले सम्यक्त्व होगा, फिर चारित्र हो सकता है, और सम्यक्त्व में चारित्र का भजाभाव है, क्योंकि सम्यक्त्वी कोई गृहस्थधर्म का पालन करता है, और कोई मुनिधर्म का। सम्यक्त्व और चारित्र की उत्पत्ति एक साथ भी होती है अथवा चारित्र के पहले भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है।

मूल:—नादंसणिस्स नाणं,
नाणेण विणा न होंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं ॥७॥

छाया:—नादर्शनिनो ज्ञानम्, ज्ञानेन विना न भवन्ति चरणगुणाः ।
अगुणिनो नास्ति मोक्षः, नास्त्यमोक्षस्य निर्वाणम् ॥७॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (अदंसणिस्स) सम्यक्त्व से रहित मनुष्य को (नाणं) ज्ञान (न) नहीं होता है। और (नाणेण) ज्ञान के (विणा) बिना

(चरणगुणा) चारित्र के गुण (न) नहीं (होंति) होते हैं। और (अगुणिस्स) चारित्र रहित मनुष्य को (मोक्खो) कर्मों से मुक्ति (नत्थि) नहीं होती है। और (अमुक्कस्स) कर्मरहित हुए बिना किसी को (निव्वाणं) निर्वाण (नत्थि) नहीं प्राप्त हो सकता है।

भावार्थः—हे गौतम ! सम्यक्त्व के प्राप्त हुए बिना मनुष्य को सम्यक् ज्ञान नहीं मिलता है; ज्ञान के बिना आत्मिक गुणों का प्रकट होना दुर्लभ है। बिना आत्मिक गुण प्रकट हुए उसके जन्म-जन्मान्तरों के संचित कर्मों का क्षय होना दुःसाध्य है और कर्मों का नाश हुए बिना किसी को मोक्ष नहीं मिल सकता है। अतः सब के पहले सम्यक्त्व की आवश्यकता है।

मूलः—निस्संकिय-निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥८॥

छायाः—निःशंकितं निःकांक्षितम्, निर्विचिकित्साऽमूढदृष्टिश्च।
उपबृंहा-स्थिरीकरणे, वात्सल्यप्रभावतेऽष्टौ ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! सम्यक्त्वधारी वही है, जो (निस्संकिय) निःशंकित रहता है, (निक्कंखिय) अतत्त्वों की कांक्षारहित रहता है। (निव्वितिगिच्छा) सुकृतों के फल होने में संदेह रहित रहता है। (य) और (अमूढदिट्ठी) जो अतत्त्वधारियों की ऋद्धिवन्त देख कर मोह न करता हुआ रहता है। (उववूह-थिरीकरणे) सम्यक्त्वी की दृढ़ता की प्रशंसा करता रहता है। सम्यक्त्व से पतित होते हुए को स्थिर करता (वच्छल्लपभावणे) स्वधर्मी जनों की सेवा-शुश्रूषा कर वात्सल्यभाव दिखाता रहता है। और आठवें में जो सन्मार्ग की उन्नति करता रहता है।

भावार्थः—हे आर्य ! सम्यक्त्वधारी वही है, जो शुद्ध देव, गुरु, धर्मरूप तत्त्वों पर निःशंकित होकर श्रद्धा रखता है। कुदेव कुगुरु कुधर्म रूप जो अतत्त्व हैं, उन्हें ग्रहण करने की तनिक भी अभिलाषा नहीं करता है। गृहस्थ-धर्म या मुनिधर्म से होने वाले फलों में जो कभी भी संदेह नहीं करता। अन्य दर्शनी को धन-सम्पत्ति से भरा-पूरा देख कर जो ऐसा विचार नहीं करता कि मेरे दर्शन से इसका दर्शन ठीक है, तभी तो यह इतना धनवान् है। सम्यक्त्वधारियों की यथायोग्य प्रशंसा करके जो उनके सम्यक्त्व के गुणों की वृद्धि करता है,

सम्यक्त्व से पतित होते हुए अन्य पुरुष को यथाशक्ति प्रयत्न करके सम्यक्त्व में जो दृढ़ करता है ; स्वधर्मी जनों की सेवा-शुश्रूषा करके जो उनके प्रति वात्सल्य भाव दिखाता है।

मूल:—मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोहि ॥९॥

छाया:—मिथ्यादर्शनरक्ताः, सनिदाना हि हिंसकाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः, तेषां पुनः दुर्लभा बोधिः ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (मिच्छादंसणरत्ता) मिथ्या-दर्शन में रत रहने वाले और (सनियाणा) निदान करनेवाले (हिंसगा) हिंसा करने वाले (इय) इस तरह (जे) जो (जीवा) जीव (मरंति) मरते हैं। (तेसिं) उनको (पुण) फिर (बोहि) सम्यक्त्व धर्म का मिलना (हु) निश्चय (दुल्लहा) दुर्लभ है।

भावार्थः—हे आर्य ! कुदेव कुगुरु कुधर्म में रत रहने वाले और निदान सहित धर्मक्रिया करने वाले, एवं हिंसा करने वाले जो जीव हैं, वे इस प्रकार अपनी प्रवृत्ति करके मरते हैं, तो फिर उन्हें अगले भव में सम्यक्त्व बोध का मिलना महान कठिन है।

मूल:— सम्मद्दंसणरत्ता अनियाणा, सुक्कलेसमोगाडा।
इय जे मरंति जीवा, सुलहा तेसिं भवे बोहि ॥१०॥

छाया:—सम्यग्दर्शनरक्ता अनिदाना शुक्ललेश्यामवगाढाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः, सुलभा तेषां भवति बोधिः ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सम्मद्दंसणरत्ता) सम्यक्त्वदर्शन में रत रहने वाले (अनियाणा) निदान नहीं करनेवाले एवं (सुक्कलेसमोगाढा) शुक्ललेश्या से समन्वित हृदय वाले (इय) इस तरह (जे) जो (जीवा) जीव (मरंति) मरते हैं (तेसिं) उन्हें (बोहि) सम्यक्त्व (सुलहा) सुलभता से (भवे) प्राप्त हो सकता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो शुद्ध देव, गुरु और धर्म रूप दर्शन में श्रद्धा पूर्वक सदैव रत रहता हो। निदानरहित तप, धर्मक्रिया करता हो, और शुद्ध

परिणामों से जिसका हृदय उमंग रहा हो। इस तरह प्रवृत्ति रस करके जो जीव मरते हैं; उन्हें धर्म बोध की प्राप्ति अगले भव में सुगमता से होती जाती है।

मूलः—जिणवयणे अणुरत्ता,
जिणवयणं जे करिंति भावेणं।
अमला असंकिलिट्ठा,
ते होंति परित्तसंसारी ॥११॥

छायाः—जिनवचनेऽनुरक्ताः, जिनवचनं ये कुर्वन्ति भावेन।
अमला असंक्लिष्टास्ते भवन्ति परीतसंसारिणः ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो जीव (जिणवयणे) वीतरागों के वचनों में (अणुरत्ता) अनुरक्त रहते हैं और (भावेणं) श्रद्धापूर्वक (जिणवयणं) जिन वचनों को प्रमाण रूप (करिंति) मानते हैं (अमला) मिथ्यात्व रूप मल से रहित एवं (असंकिलिट्ठा) संक्लेश करके रहित जो हों, (ते) वे (परित्तसंसारी) अल्प-संसारी होते हैं।

भावार्थः—हे आर्य ! जो वीतराग के कहे हुए वचनों में अनुरक्त रह कर उनके वचनों को प्रमाणभूत मानते हैं, तथा मिथ्यात्व रूप दुर्गुणों से बचते हुए राग-द्वेष से दूर रहते हैं, वे ही सम्यक्त्व को प्राप्त करके, अल्प समय में ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

मूलः—जातिं च वुड्ढिं च इहज्ज पास,
भूतेहिं जाणे पडिलेह सायं।
तम्हाऽतिविज्जो परमंति णच्चा,
सम्मत्तदंसी ण करेति पावं ॥१२॥

छायाः—जातिं च वृद्धिं च इह दृष्ट्वा,
भूतैर्ज्ञात्वा प्रतिलेख्य सातम्।
तस्मादतिविद्वान् परमिति ज्ञात्वा,
सम्यक्त्वदर्शी न करोति पापम् ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जाति) जन्म (च) और (वुड्ढि) वृद्धपन को (इहज्ज) इस संसार में (पास) देख कर (च) और (भूतेहि) प्राणियों करके (सासं) साता को (जाणे) जान (पडिलेह) देख (तम्हा) इसलिये (अतिविज्जो) अत्यन्त (परमं) मोक्ष मार्ग (णच्चा) जान कर (सम्मत्तदंसी) सम्यक्त्व दृष्टि वाले (पावं) पाप को (ण) नहीं (करेति) करता है।

भावार्थः—हे गौतम ! इस संसार में जन्म और मरण के महान् दुखों को तू देख और इस बात का ज्ञान प्राप्त कर कि सब जीवों को सुख प्रिय है और दुख अप्रिय है। इसलिये ज्ञानीजन मोक्ष के मार्ग को जानकर सम्यक्त्वधारी बनकर किंचित् मात्र भी पाप नहीं करते हैं।

मूलः—इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥१३॥

छायाः—इतो विध्वंसमानस्य, पुनः संबोधिर्दुर्लभा।
दुर्लभातथार्चा ये धर्मार्थं व्याकुर्वन्ति ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (इओ) यहाँ से (विद्धंसमाणस्स) मरने के बाद उसको (पुणो) फिर (संबोहि) धर्मबोध की प्राप्ति होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। उससे भी कठिन (जे) जो (धम्मट्ठं) धर्म रूप अर्थ का (वियागरे) प्रकाश करता है, ऐसा (तहच्चाओ) तथा भूत का मानव शरीर मिलना अथवा सम्यक्त्व की प्राप्ति तथा योग्य भावना का उस में आना (दुल्लहाओ) दुर्लभ है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो जीव सम्यक्त्व से पतित होकर यहाँ से मरता है उसको फिर धर्म बोध की प्राप्ति होना महान् कठिन है। इससे भी यथातथ्य धर्म रूप अर्थ का प्रकाशन जिस मानव शरीर से होता रहता है। ऐसा मनुष्य देह अथवा सम्यक्त्व की प्राप्ति के योग्य उच्च लेश्याओं (भावनाओं) का आना महान कठिन है।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(सातवाँ अध्याय)

धर्म-निरूपण

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः—महव्वए पंच अणुव्वए य,
तहेव पंचासवसंवरे य ।
विरतिं इह स्सामणियंमि पन्ने,
लवावसक्की समणेत्तिबेमि ॥१॥

छायाः—महाव्रतानि पञ्चाणुव्रतानि च,
तथैव पञ्चास्रवान् संवरंच ।
विरतिमिह श्रामण्ये प्राज्ञः
लवापशाङ्की: श्रमण इति ब्रवीमि ॥१॥

अन्वयार्थः—हे मनुजो ! (इह) इस जिन शासन में (स्सामणियंमि) चारित्र पालन करने में (पन्ने) बुद्धिमान् और (लवावसक्की) कर्म तोड़ने में समर्थ ऐसे (समणे) साधु (पंच) पाँच (महव्वए) महाव्रत (य) और (अणुव्वए) पाँच अणुव्रत (य) और (तहेव) वैसे ही (पंचासवसंवरे य) पाँच आसव और संवर रूपा (विरतिं) विरति को (त्तिबेमि) कहता हूँ ।

भावार्थः—हे मनुजो ! सच्चरित्र के पालन करने में महा बुद्धिशाली और कर्मों को नष्ट करने में समर्थ ऐसे श्रमण भगवान महावीर ने इस शासन में साधुओं के लिए तो पाँच महाव्रत अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अकिंचन को पूर्ण रूप से पालने की आज्ञा दी है, और गृहस्थों के लिये

कम से कम पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत यह बारह प्रकार के धर्म को धारण करना आवश्यकीय बताया है। वे इस प्रकार हैं—**थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं**—हिलते-फिरते त्रस जीवों की बिना अपराध के देखभाल कर द्वेष वश मारने की नीयत से हिंसा न करना। **थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं**—जिस भाषा से अनर्थ पैदा होता हो और राज एवं पंचायत में अपराधी हो, ऐसी लोक विरुद्ध असत्य भाषा को तो कम से कम नहीं बोलना। **थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं**—गुप्त रीति से किसी के घर में घुस कर, गाँठ खोल कर, ताले में कुंजी लगा कर, लुटेरे की तरह या और भी किसी तरह की जिससे व्यवहार मार्ग में भी लज्जा हो, ऐसी चोरी तो कम से कम नहीं करना। **सदारसंतोसे**[1] —कुल के अग्रसरों की साक्षी से जिसके साथ विवाह किया है उस स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों को माता एवं बहिन और बेटी की निगाह से देखना और अपनी स्त्री के साथ भी कम से कम अष्टमी, चतुर्दशी, एकादशी, द्वितीया, पंचमी, अमावस्या, पूर्णिमा के दिन का संभोग त्याग करना। **इच्छापरिमाणे**—खेत, कूए, सोना, चाँदी, धान्य, पशु आदि सम्पत्ति का कम से कम जितनी इच्छा हो उतनी ही का परिमाण करना ताकि परिमाण से अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने की लालसा रुक जाय। यह भी गृहस्थ का एक धर्म है। गृहस्थ को अपने छठे धर्म के अनुसार, **दिसिव्वय**—चारों दिशा और ऊँची-नीची दिशाओं में गमन करने का नियम कर लेना। सातवें में **उपभोग-परिभोग-परिमाण**—खाने-पीने की वस्तुओं की और पहनने की वस्तुओं की सीमा बाँधना। ऐसा करने से कभी वह तृष्णा के साथ भी विजय प्राप्त कर लेता है। फिर उससे मुक्ति भी निकट आ जाती है। इसका विशेष विवरण यों है—

मूल:—इंगाली, वण, साडी, भाडी फोडी सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव य दंत-लक्खरसकेसविसविसयं ॥२॥

---

१ गृहस्थ-धर्म पालन करने वाली महिलाओं को भी अपने कुल के अग्रसरों की साक्षी से विवाहित पुरुष के सिवाय समस्त पुरुष वर्ग को पिता, भ्राता और पुत्र के समान समझना चाहिए। और स्वपति के साथ भी कम से कम पर्व तिथियों पर कुशील सेवन का परित्याग करना चाहिए।

छाया:—अङ्गार-वन-शाटी, भाटिः स्फोटिः सुवर्जयेत् कर्म।
वाणिज्यं चैव च दन्त-लाक्षा-रस-केश-विष-विषयम् ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (इंगाली) कोयले पड़वाने का (वण) बन कटवाने का (साडी) गाड़ियाँ बनाकर बेचने का (भाडी) गाड़ी, घोड़े, बैल, आदि से भाड़ा कमाने का (फोडी) खानें आदि खुदवाने का (कम्मं) कर्म गृहस्थ को (सुवज्जए) परित्याग कर देना चाहिए। (य) और (दंत) हाथी दांत का (लक्ख) लाख का (रस) मधु आदि का (केस) मुर्गा, कबूतरों आदि के बेचने का (विसविसयं) जहर और शस्त्रों आदि का (वाणिज्जं) व्यापार (चेव) यह भी निश्चय रूप से गृहस्थों को छोड़ देना चाहिए।

भावार्थः—हे आर्य ! गृहस्थधर्म पालन करने वालों को कोयले तैयार करवा कर बेचने का या कुम्हार, लुहार, भड़भूंजे आदि के काम जिनमें महान अग्नि का आरंभ होता है, नहीं करना चाहिए। बन, झाड़ी कटवाने का ठेका वगैरह लेने का, इक्के, गाड़ी, वगैरह तैयार करवा कर बेचने का, बैल, घोड़े, ऊँट आदि को भाड़े से फिराने का, या इक्के, गाड़ी, वगैरह भाड़े फिरा करके आजीविका कमाने का और खानें आदि खुदवाने का कर्म आजीवन के लिए छोड़ देना चाहिए। और व्यापार संबंध में हाथी-दांत, चमड़े आदि का, लाख का, मदिरा, शहद आदि का, कबूतर, बटेर, तोते, कुक्कुट, बकरे आदि का, संखिया, वच्छनाग आदि जिनके खाने से मनुष्य मर जाते हैं ऐसे जहरीले पदार्थों का, या तलवार, बन्दूक, बरछी आदि का व्यापार कम से कम गृहस्थ-धर्म पालन करनेवाले को कभी भूल कर भी नहीं करना चाहिए।

मूलः—एवं खु जंतपिल्लणकम्मं, निल्लंछणं च दवदाणं।
सरदहतलायसोसं, असइपोसं च वज्जिज्जा ॥३॥

छाया:—एवं खलु यन्त्रपीडनकर्म, निर्लाञ्छनं दवदानम्।
सरद्रहतडागशोषं, असती पोषम् च वर्जयेत् ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार (खु) निश्चय करके (जंतपिल्लण) यंत्रों के द्वारा प्राणियों को बाधा पहुँचे ऐसा (च) और (निल्लंछणं) अण्डकोष फुड़वाने का (दवदाणं) दावानल लगाने का (सरदह-

तलायसोसं) सर, द्रह, तालाब की पाल फोड़ने का (च) और (असईपोसं) दासी वेश्यादि के पोषण का (कम्मं) कर्म (वज्जिज्जा) छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ—हे गौतम! ऐसे कई प्रकार के यंत्र हैं कि जिनके द्वारा पंचेन्द्रियों के अवयवों का छेदन-भेदन होता हो, अथवा यंत्रादिकों के चलाने से प्राणियों को पीड़ा हो, आदि ऐसे यंत्र सम्बन्धी-धंधों का गृहस्थ-धर्म पालन करने वालों को परित्याग कर देना चाहिए और बैल आदि को नपुंसक अर्थात् खस्सी करने का, दावानल सुलगाने का, बिना खोदी हुई जगह पर पानी भरा हुआ हो, ऐसा सर, एवं खूब जहाँ पानी भरा हुआ हो ऐसा द्रह तथा तालाब, कूआ, बावड़ी आदि जिसके द्वारा बहुत से जीव पानी पीकर अपनी तृषा बुझाते हैं। उनकी पाल फोड कर पानी निकाल देने का, दासी-वेश्या आदि को व्यभिचार के निमित्त या चूहों को मारने के लिये बिल्ली आदि का पोषण करना, आदि-आदि कर्म गृहस्थी को जीवन भर के लिए छोड़ देना ही सच्चा गृहस्थ-धर्म है। गृहस्थ का आठवाँ धर्म **अणत्थदंडवेरमणं**—हिंसक विचारों, अनर्थकारी बातों आदि का परित्याग करना है। गृहस्थ का नौवाँ धर्म यह है, कि **सामाइयं**—दिन भर में कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) तो ऐसा बितावें कि संसार से बिलकुल ही विरक्त हो कर उस समय वह आत्मिक गुणों का चिन्तवन कर सकें। गृहस्थ का दशवाँ धर्म है **देसावगासियं**—जिन पदार्थों की छूट[1] रक्खी है, उनका फिर भी त्याग करना और निर्धारित समय के लिए सांसारिक झंझटों से पृथक् रहना। ग्यारहवाँ धर्म यह है कि **पोसहोववासे**—कम से कम महीने भर में प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को पौषध करे[2] अर्थात् इन दिनों में वे सम्पूर्ण सांसारिक झंझटों को छोड़ कर अहोरात्रि आध्यात्मिक विचारों का मनन किया करें। और बारहवाँ गृहस्थ का धर्म यह है कि **अतिहिसंयअस्सविभागे**—अपने घर आये हुए अतिथि का सत्कार कर उन्हें भोजन वे देते रहें। इस प्रकार गृहस्थ को अपने गृहस्थ-धर्म का पालन करते रहना चाहिये।

---

१ आगार

2 The eleventh vow of a layman in which he has to abandon all sinful activities for a day and has to remain in a Religious place fasting.

यदि इस प्रकार गृहस्थ का धर्म पालन करते हुए कोई उत्तीर्ण हो जाय और वह फिर आगे बढ़ना चाहे तो इस प्रकार प्रतिमा धारण कर गृहस्थ जीवन को सुशोभित करे।

मूलः—दंसणवयसामाइयपोसहपडिमा य बंभ अचित्ते ।
आरंभपेसउद्दिट्ठ वज्जए समणभूए य ॥४॥

छायाः—दर्शनव्रतसामायिकपौषधप्रतिमा च ब्रह्म अचित्तम् ।
आरंभप्रेषणोद्दिष्टवर्जकः, श्रमणभूतश्च ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (दंसणवयसामाइय) दर्शन, व्रत, सामायिक, पडिमा (य) और (पोसह) पौषध (य) और (पडिमा) पाँचवीं में पाँच बातों का परित्याग वह करे (बंभ) ब्रह्मचर्य पाले (अचित्ते) सचित का भोजन न करे (आरंभ) आरंभ त्यागे (पेस) दूसरों से आरम्भ करवाने का त्याग करना, (उद्दिट्ठवज्जए) अपने लिए बनाये हुए भोजन का परित्याग करना (य) और अन्तिम पडिमा में (समणभूए) साधु के समान वृत्ति को पालना।

भावार्थः—हे गौतम ! गृहस्थधर्म की ऊँची पायरी पर चढ़ने की विधि इस प्रकार है:—पहले अपनी श्रद्धा की ओर दृष्टिपात करके वह देख ले, कि मेरी श्रद्धा में कोई भ्रम तो नहीं है। इस तरह लगातार एक महीने तक श्रद्धा के विषय में ध्यानपूर्वक अभ्यास वह करता रहे। फिर उसके बाद दो मास तक पहले लिये हुए व्रतों को निर्मल रूप से पालने का अभ्यास वह करे। तीसरी पडिमा में तीन मास तक यह अभ्यास करे कि किसी भी जीव पर राग-द्वेष के भावों को वह न आने दे। अर्थात् इस प्रकार अपना हृदय सामायिक मय बना ले। चौथी पडिमा में चार महीने में छः-छः के हिसाब से पौषध करे। पाँचवीं पडिमा में पाँच महीने तक इन पाँच बातों का अभ्यास करे—(१) पौषध में ध्यान करे, (२) शृंगार के निमित्त स्नान न करे, (३) रात्रि भोजन न करे (४) पौषध के सिवाय और दिनों में दिन का ब्रह्मचर्य पाले, (५) रात्रि में ब्रह्मचर्य की मर्यादा करता रहे। छठी पडिमा में छः महीने तक सब प्रकार से ब्रह्मचर्य के पालन करने का अभ्यास वह करे। सातवीं पडिमा में सात महीने तक सचित्त भोजन न खाने का अभ्यास करे। आठवीं पडिमा में आठ महीने तक स्वतः कोई आरंभ न करे। नौवीं पडिमा में नौ महीने

तक दूसरों से भी आरम्भ न करवावे। दशवीं पडिमा में दश महीने तक अपने लिए बनाया हुआ भोजन न खावे। ग्यारहवीं पडिमा में ग्यारह महीने तक साधु के समान क्रियाओं का पालन वह करता रहे। शक्ति हो तो बालों का लोच भी करे, नहीं शक्ति हो तो हजामत करवाले, खुली दण्डी का रजोहरण बगल में रक्खे। मुंह पर मुंह-पत्ती बंधी हुई रक्खे और ९६ दोषों को टाल कर अपने ज्ञाति वालों के यहाँ से भोजन लावे। इस प्रकार उत्तरोत्तर गुण बढ़ाते हुए प्रथम पडिमा में एकान्तर तप करे और दूसरी पडिमा में दो महीने तक बेले-बेले पारणा करे। इसी तरह ग्यारहवीं पडिमा में ग्यारह महीने तक ग्यारह-ग्यारह उपवास करता रहे। अर्थात् एक दिन भोजन करे फिर ग्यारह उपवास करे। फिर एक दिन भोजन करे। यों लगातार ग्यारह महीने तक ग्यारह का पारणा करे।

इस प्रकार गृहस्थ-धर्म पालते-पालते अपने जीवन का अंतिम समय यदि आ जाय तो **अपच्छिमा मरणंतिआ संलेहणा झूसणाराहणा**—सब सांसारिक व्यवहारों का सब प्रकार से आजन्म के लिए परित्याग करके संथारा[1] (समाधि) धारण करले, और अपने त्याग धर्म में किसी भी प्रकार की दोषापत्ति भूल से यदि हो गयी हो, तो आलोचक के पास उन बातों को प्रकाशित कर दे। जो वे प्रायश्चित्त उसके लिए दें उसे स्वीकार कर अपनी आत्मा को निर्मल बनावे फिर प्राणीमात्र पर यों मैत्री भाव रक्खे।

मूलः—खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केणई ॥५॥

छायाः—क्षमयामि सर्वान् जीवान्, सर्वे जीवा क्षमन्तु मे।
मैत्री मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनापि ॥५॥

अन्वयार्थः—(सव्वे) सब (जीवा) जीवों को (खामेमि) क्षमाता हूँ। (मे) मुझे (सव्वे) सब (जीवा) जीव (खमंतु) क्षमा करो (सव्वभूएसु) प्राणी मात्र में (मे) मेरी (मित्ती) मैत्री भावना है (केणई) किसी के भी साथ (मज्झं) मेरा (वेरं) वैर (न) नहीं है।

1 Act of meditating that a particular person may die in an undistracted condition of mind.

भावार्थः—हे गौतम ! उत्तम पुरुष जो होता है वह सदैव वसुधैव कुटुम्बकम् जैसी भावना रखता हुआ वाचा के द्वारा भी यों बोलेगा कि सब ही जीव क्या छोटे और बड़े उनसे क्षमा याचना हूं। अतः वे मेरे अपराध को क्षमा करें। चाहे जिस जाति व कुल का हो उन सबों में मेरी मैत्री भावना है। भले ही वे मेरे अपराधी क्यों न हों, तदपि उन जीवों के साथ मेरा किसी भी प्रकार वैर-विरोध नहीं है। बस, उसके लिए फिर मुक्ति कुछ भी दूर नहीं है।

मूलः—अगारिसामाइअंगाइं सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगराइं न हावए ॥६॥

छायाः—आगारीसामायिकांगानि, श्रद्धी कायेन स्पृशति।
पौषधमुभयोः पक्षयोः, एकरात्रं न हाययेत् ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सड्ढी) श्रद्धावान् (अगारि) गृहस्थी (सामाइअंगाइं) सामायिक के अंगों को (काएणं) काया के द्वारा (फासए) स्पर्श करे, और (दुहओ) दोनों (पक्खं) पक्ष को (पोसहं) पौषध करने में (एगराइं) एक रात्रि की भी (न) नहीं (हावए) न्यूनता करे।

भावार्थः—हे आर्य ! जो गृहस्थ है, और अपना गृहस्थ-धर्म पालन करता है, वह श्रद्धावान् गृहस्थ सामायिक भाव के अंगों की अर्थात् समता शान्ति आदि गुणों की मन, वचन, काया के द्वारा अभ्यास के साथ अभिवृद्धि करता रहे। और कृष्ण शुक्ल दोनों पक्षों में कम से कम छः पौषध करने में तो न्यूनता एक रात्रि की भी कभी न करे।

मूलः—एवं सिक्खासमावण्णे, गिहिवास वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥७॥

छायाः—एवं शिक्षासमापन्नः, गृहिवासेऽपि सुव्रतः।
मुच्यते छवि पर्वणो, गच्छेद् यक्षसलोकताम् ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एव) इस प्रकार (सिक्खासमावण्णे) शिक्षा से युक्त गृहस्थ (गिहिवासे वि) गृहवास में भी (सुव्वए) अच्छे व्रत वाला होता

है। और वह अन्तिम समय में (छविपव्वाओ) चमड़ी और हड्डी वाले शरीर को (मुच्चई) छोड़ता है। और (जक्खसलोगयं) यक्ष देवता के सदृश स्वर्गलोक को (गच्छे) जाता है।

भावार्थः—हे गौतम ! इस प्रकार जो गृहस्थ अपने सदाचार रूप गृहस्थ-धर्म का पालन करता है, वह गृहस्थाश्रम में भी अच्छे व्रतवाला संयमी होता है। इस प्रकार गृहस्थधर्म के पालते हुए यदि उसका अन्तिम समय भी आ जाय तो भी हड्डी, चमड़ी और मांस निर्मित इस औदारिक[1] शरीर को छोड़कर यक्ष देवताओं के सदृश देवलोक को प्राप्त होता है।

मूलः—दीहाउया इड्ढिमंता, समिद्धा कामरूविणो।
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जो अच्चिमालिप्पभा ॥८॥

छाया—दीर्घायुषः ऋद्धिमन्तः, समृद्धाः कामरूपिणः।
अधुनोत्पन्नसंकाशाः, भूयोऽर्चिमालिप्रभाः ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! जो गृहस्थ-धर्म पालन कर स्वर्ग में जाते हैं वे वहाँ (दीहाउया) दीर्घायु (इड्ढिमंता) ऋद्धिमान् (समिद्धा) समृद्धिशाली (काम-रूविणो) इच्छानुसार रूप बनाने वाले (अहुणोववन्नसंकासा) मानो तत्काल ही जन्म लिया हो जैसे (भुज्जोअच्चिमालिप्पभा) और अनेकों सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान होते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो गृहस्थ गृहस्थ-धर्म पालते हुए नीति के साथ अपना जीवन बिताते हुए स्वर्ग को प्राप्त होते हैं, वे वहाँ दीर्घायु, ऋद्धिमान, समृद्धिशाली, इच्छानुकूल रूप बनाने की शक्तियुक्त तत्काल के जन्मे हुए जैसे, और अनेकों सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान होते हैं।

मूलः—ताणि ठाणाणि गच्छंति, सिक्खिता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे संतिपरिनिव्वुडा ॥९॥

---

1 External Physical body having flesh, blood and bone.

छाया:—तानि स्थानानि गच्छन्ति, शिक्षित्वा संयमं तपः ।
भिक्षुका वा गृहस्था वा, ये सन्ति परिनिवृताः ॥९॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (संतिपरिनिव्वुडा) शान्ति के द्वारा चहुं ओर से संताप रहित (जे) जो (भिक्खाए) भिक्षु (वा) अथवा (गिहत्थे) गृहस्थ हों (संजमं) संयम (तवं) तप को (सिक्खित्ता) अभ्यास करके (ताणि) उन दिव्य (ठाणाणि) स्थानों को (गच्छंति) जाते हैं ।

भावार्थ:—हे गौतम ! क्षमा के द्वारा सकल संतापों से रहित होने पर साधु हो या गृहस्थ चाहे जो हो, जाति-पाँति का यहाँ कोई गौरव नहीं है । संयमी जीवन वाला और तपस्वी हो वही दिव्य स्वर्ग में जाता है ।

मूल:—बहिया उड्ढमादाय, नाकंक्खे कयाइ वि ।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥१०॥

छाया:—बाह्यमूर्ध्वमादाय, नावकांक्षेत् कदापि च ।
पूर्वकर्मक्षयार्थं, इमं देहं समुद्धरेत् ॥१०॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (बहिया) संसार से बाहर (उड्ढ) ऊर्ध्व, ऐसे मोक्ष की अभिलाषा (आदाय) ग्रहण कर (कयाइ वि) कभी भी (नाकंक्खे) विषयादि सेवन की इच्छा न करे, और (पुव्वकम्मक्खयट्ठाए) पूर्व संचित कर्मों को नष्ट करने के लिए (इमं) इस (देहं) मानव शरीर को (समुद्धरे) निर्दोष वृत्ति से धारण करके रक्खे ।

भावार्थ:—हे गौतम ! संसार से परे जो मोक्ष है, उसको लक्ष्य में रख कर के कभी भी कोई विषयादि सेवन की इच्छा न करे । और पूर्व के अनेक भवों में किये हुए कर्मों को नष्ट करने के लिए इस शरीर का, निर्दोष आहारादि से पालन-पोषण करता हुआ अपने मानव-जन्म को सफल बनावे ।

मूल:—दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥११॥

छाया:—दुर्लभस्तु मुधादायी, मुधाजीव्यपि दुर्लभः ।
मुधादायी मुधाजीवी, द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (मुहादाई) स्वार्थरहित भावना से देने वाला व्यक्ति (दुल्लहा) दुर्लभ है (उ) और (मुहाजीवी) स्वार्थरहित भावना से दिये हुए भोजन के द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले (वि) भी (दुल्लहा) दुर्लभ हैं, (मुहादाई) ऐसा देने वाला और (मुहाजीवी) ऐसा लेने वाला (दो वि) दोनों ही (सोग्गइं) सुगति को (गच्छंति) जाते हैं।

भावार्थ—हे गौतम ! आठ प्रकार के ऐहिक सुख प्राप्त होने की स्वार्थ रहित भावना से जो दान देता है, ऐसा व्यक्ति मिलना दुर्लभ ही है। और देने वाले का किसी भी प्रकार सम्बन्ध व कार्य न करके उससे निःस्वार्थ ही भोजन ग्रहण कर अपना जीवन निर्वाह करते हों, ऐसे महान् पुरुष भी कम हैं। अतएव बिना स्वार्थ से देने वाला मुहादाई[1] और निःस्पृह भाव से लेने वाला मुहाजीवी[2] दोनों ही सुगति में जाते हैं।

मूलः—संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥१२॥

छायाः—सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्यः, गृहस्थाः संयमोत्तराः ।
अगारस्थेभ्यः सर्वेभ्यः, साधवः संयमोत्तराः ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एगेहिं) कितनेक (भिक्खूहिं) शिथिल साधुओं से (गारत्था) गृहस्थ (संजमुत्तरा) संयमी जीवन बिताने में अच्छे (संति) होते हैं। (य) और (सव्वेहिं) देशविरति वाले सब (गारत्थेहिं) गृहस्थों से (संजमुत्तरा) निर्दोष संयम पालने वाले श्रेष्ठ हैं।

भावार्थ—हे आर्य ! कितने शिथिलाचारी साधुओं से गृहस्थ-धर्म पालने वाले गृहस्थ भी अच्छे होते हैं जो अपने नियमों को निर्दोष रूप से पालन करते रहते हैं। और निर्दोष संयम पालने वाले जो साधु हैं, वे देशविरति वाले सब गृहस्थों से बढ़कर हैं।

---

1 Giving without getting any thing in return.
2 Maintaining oneself without doing any service.

मूलः—चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं ।
एयाणि वि न ताइंति, दुस्सीलं परियागयं ॥१३॥

छायाः—चीराजिनं नग्नत्वं जटित्वं संघाटित्वमुण्डित्वम् ।
एतान्यपि न त्रायन्ते, दुःशीलं पर्यायगतम् ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (दुस्सीलं) दुराचार का धारक (चीराजिणं) केवल वल्कल और चर्म के वस्त्र धारण (नगिणिणं) नग्न अवस्थापन्न (जडी) जटाधारी (संघाडि) वस्त्र के टुकड़े सांध सांध कर पहनने वाला (मुंडिणं) केशों का मुण्डन या लोच करने वाला (एयाणि) ये सब (परियागयं) दीक्षा धारण करके भी (न) नहीं (ताइंति) रक्षित होता है ।

भावार्थः—हे गौतम ! संयमी जीवन बिताये बिना केवल दरख्तों की छाल के वस्त्र पहनने से या किसी किस्म के चर्म के वस्त्र पहनने से, अथवा नग्न रहने से, अथवा जटाधारण करने से, अथवा फटे-टूटे कपड़ों के टुकड़ों को सींकर पहनने से, और केशों का मुण्डन व लोंचन करने से कभी मुक्ति नहीं होती है । इस प्रकार भले ही वह साधु कहलाता हो, पर वह दुराचारी न तो अपना स्वतः का रक्षण कर पाता है, और न औरों ही का । अतः स्व-पर-कल्याण के लिए शील-सम्यक् चारित्र का पालन करना ही श्रेयस्कर है ।

मूलः—अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥१४॥

छायाः—अस्तंगत आदित्ये, पुरस्ताच्चानुद्गते ।
आहारमादिकं सर्वं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (आइच्चे) सूर्य (अत्थंगयंमि) अस्त होने पर (य) और (पुरत्था) पूर्व दिशा में (अणुग्गए) उदय नहीं हो वहाँ तक (आहारमाइयं) आहार आदि (सव्वं) सब को (मणसा) मन से (वि) भी (न)न (पत्थए) चाहे ।

भावार्थः—हे गौतम ! सूर्य अस्त होने के पश्चात् जब तक फिर पूर्व दिशा में सूर्य उदय न हो जावे उसके बीच के समय में गृहस्थ सब तरह के पेय-अपेय पदार्थों को खाने-पीने की मन से भी कभी इच्छा न करे।

मूलः—जायरूवं जहामट्ठं, निद्धंतमलपावगं।
रागदोसभयातीतं, तं वयं बूम माहणं ॥१५॥

छायाः—जातरूप यथा मृष्टं निध्मातमलपापकम्।
रागद्वेष भयातीतं, तं वयम् ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (मट्ठ) कसौटी पर कसा हुआ और (निद्धंतमलपावगं) अग्नि से नष्ट किया है मल को जिस के ऐसा (जायरूवं) सुवर्ण गुण युक्त होता है। वैसे ही जो (रागदोसभयातीतं) राग, द्वेष और भय से रहित हो (तं) उसको (वयं) हम (माहणं) ब्राह्मण (बूम) कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार कसौटी पर कसा हुआ एवं अग्नि के ताप से दूर हो गया है मैल जिसका ऐसा सुवर्ण ही वास्तव में सुवर्ण होता है। इसी तरह निर्मोह और शान्ति रूप कसौटी पर कसा हुआ तथा ज्ञान रूप अग्नि से जिसका राग द्वेष रूप मैल दूर हो गया हो उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलः—तवस्सियं किसं दंतं, अवचियमंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥१६॥

छायाः—तपस्विनं कृशं दान्तं, अपचितमांस शोणितम्।
सुव्रतं प्राप्त निर्वाणं, तं वयम् ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! जो (तवस्सियं) तपस्या करने वाला हो, जिससे वह (किसं) दुर्बल हो रहा हो (दंतं) इन्द्रियों को दमन करने वाला हो, जिससे (अवचियमंससोणिअं) सूख गया है मांस और खून जिसका, (सुव्वयं) व्रत नियम सुन्दर पालता हो (पत्तनिव्वाणं) जो तृष्णारहित हो (तं) उसको (वयं) हम (माहणं) ब्राह्मण (बूम) कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! तप करने से जिसका शरीर दुर्बल हो गया हो, इन्द्रियों का दमन करने से लोहू, मांस जिसका सूख गया हो, व्रत नियमों का सुन्दर रूप से पालन करने के कारण जिसका स्वभाव शान्त हो गया हो, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलः—जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥१७॥

छायाः—यथा पद्मं जले जातम्, नोपलिप्यते वारिणा।
एवमलिप्तं कामैः, तं वयम् ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (पोमं) कमल (जले) जल में (जायं) उत्पन्न होता है तो भी (वारिणा) जल से (नोवलिप्पइ) वह लिप्त नहीं होता है (एवं) ऐसे ही जो (कामेहिं) काम भोगों से (अलित्तं) अलिप्त है (तं) उसको (वयं) हम (माहणं) ब्राह्मण (बूम) कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जैसे कमल जल में उत्पन्न होता है, पर जल से सदा अलिप्त रहता है, इसी तरह कामभोगों से उत्पन्न होने पर भी विषय-वासना सेवन से जो सदा दूर रहता है, वह किसी भी जाति व कौम का क्यों न हो, हम उसी को ब्राह्मण कहते हैं।

मूलः—न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥१८॥

छायाः—नाऽपि मुण्डितेन श्रमणा, न ओंकारेण ब्राह्मणः।
न मुनिरण्यवासेन, कुशचीरेण न तापसाः ॥१८॥

अन्वयार्थः— हे इन्द्रभूति ! (मुंडिएण) मुंडन व लोचन करने से (समणो) श्रमण (न) नहीं होता है। और (ओंकारेण) ओंकार शब्द मात्र जप लेने से (बंभणो) कोई ब्राह्मण (वि) भी (न) नहीं हो सकता है। इसी तरह (रण्णवासेणं) अटवी में रहने से (मुणी) मुनि (न) नहीं होता है। (कुसचीरेण) दर्भ के वस्त्र पहनने से (तावसो) तपस्वी (न) नहीं होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! केवल सिर मुंडाने से या लुंचन मात्र करने से ही कोई साधु नहीं बन जाता है। और न ओंकार शब्द मात्र के रटने से ही कोई ब्राह्मण हो सकता है। इसी तरह केवल सघन अटवी में निवास कर लेने से ही कोई मुनि नहीं हो सकता है। और न केवल घास विशेष अर्थात् दर्भ का कपड़ा पहन लेने से कोई तपस्वी बन सकता है।

मूल:—समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो ॥१९॥

छाया:—समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः।
ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापसः ॥१९॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (समयाए) शत्रु और मित्र पर समभाव रखने से (समणो) श्रमण-साधु (होइ) होता है। (बंभचेरेण) ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने से (बंभणो) ब्राह्मण होता है (य) और इसी तरह (नाणेणं) ज्ञान सम्पादन करने से (मुणी) मुनि (होइ) होता है, एवं (तवेणं) तप करने से (तावसो) तपस्वी (होइ) होता है।

भावार्थ:—हे गौतम ! सर्व प्राणी मात्र, फिर चाहे वे शत्रु जैसा बर्ताव करते हों या मित्र जैसा, ब्राह्मण, श्वःपाक, चाहे जो व्यक्ति हो, उन सभी को समदृष्टि से जो देखता हो, वही साधु है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला किसी भी कौम का हो, वह ब्राह्मण ही है, इसी तरह सम्यक् ज्ञान सम्पादन कर के उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाला ही मुनि है। ऐहिक सुखों की वांछा रहित बिना किसी को कष्ट दिये जो तप करता है, वही तपस्वी है।

मूल:—कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥२०॥

छाया:—कर्मणा ब्राह्मणो भवति, कर्मणा भवति क्षत्रियः।
वैश्यः कर्मणा भवति, शूद्रो भवति कर्मणा ॥२०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (कम्मुणा) क्षमादि अनुष्ठान करने से (बंभणो) ब्राह्मण (होइ) होता है, और (कम्मुणा) पर-पीड़ाहरन व रक्षादि कार्य करने से (खत्तिओ) क्षत्री (होइ) होता है। इसी तरह (कम्मुणा) नीति पूर्वक व्यवहार कर्म करने से (वइसो) वैश्य (होइ) होता है। और (कम्मुणा) दूसरों को कष्ट पहुँचाने रूप कार्य जो करे वह (सुद्दो) शूद्र (हवइ) होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! चाहे किसी भी कुल का मनुष्य क्यों न हो, जो क्षमा, सत्य, शील, तप आदि सदनुष्ठान रूप कर्मों का कर्त्ता होता है, वही ब्राह्मण है। केवल छापा तिलक कर लेने से ब्राह्मण नहीं हो सकता है। और जो भय, दुःख आदि से मनुष्यों को मुक्त करने का कर्म करता है, वही क्षत्रिय अर्थात् राजपुत्र है। अन्याय पूर्वक राज करने से तथा शिकार खेलने से कोई भी व्यक्ति आज तक क्षत्रिय नहीं बना। इसी तरह नीतिपूर्वक जो व्यापार करने का कर्म करता है वही वैश्य है। नापने, तौलने, लेन, देन आदि सभी में अनीतिपूर्वक व्यवहार कर लेने मात्र से कोई वैश्य नहीं हो सकता है। और जो दूसरों को संताप पहुँचाने वाले ही कर्मों को करता रहता है वही शूद्र है।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(आठवाँ अध्याय)

ब्रह्मचर्य निरूपण

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं, तेसिं इंदियदरिसणं ॥१॥

कूइअं रुइअं गीअं, हासभुत्तासिआणि अ ।
पणीअं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोअणं ॥२॥

गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया ।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥३॥

छायाः—आलयः स्त्रीजनाकीर्णः, स्त्रीकथा च मनोरमा ।
संस्तवश्चैव नारीणाम्, तासामिन्द्रियदर्शनम् ॥१॥

कूजितं रुदितं गीतं, हास्यभुक्तासितानि च ।
प्रणीतं भक्तपानं च, अतिमात्रं पानभोजनम् ॥२॥

गात्र भूषणमिष्टं च, कामभोगाश्च दुर्जयाः ।
नरस्यात्मगवेषिणः, विषं तालपुटं यथा ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (थीजणाइण्णो) स्त्री जन सहित (आलओ) मकान में रहना (य) और (मणोरमा) मन-रमणीय (थीकहा) स्त्री-कथा कहना (चेव) और (नारीणं) स्त्रियों के (संथवो) संस्तव अर्थात् एक आसन पर बैठना (चेअ) और (तेसिं) स्त्रियों का (इंदियदरिसणं) अङ्गोपांग देखना, ये ब्रह्म-

चारियों के लिए निषिद्ध है। (अ) और (कूइअं) कूजित (रुइअं) रुदित (गीअं) गीत (हास) हास्य वगैरह (भुत्तासिआणि) स्त्रियों के साथ पूर्व में जो काम-चेष्टा की है, उसका स्मरण (च) और नित्य (पणीअं) स्निग्ध (भत्तपाणं) आहार पानी एवं (अइमायं) परिमाण से अधिक (पाणभोअणं) आहार पानी का खाना पीना (च) और (इट्ठं) प्रियकारी (गत्तभूसणं) शरीर शुश्रूषा विभूषा करना ये सब ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध हैं। क्योंकि (दुज्जया) जीतने में कठिन हैं ऐसे ये (कामभोगा) कामभोग (अत्तगवेसिस्स) आत्मगवेषी ब्रह्मचारी (नरस्स) मनुष्य के (तालउडं) तालपुट (विसं) जहर के (जहा) समान हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! स्त्री व नपुंसक (हींजड़े) जहाँ रहते हों वहाँ ब्रह्म-चारी को नहीं रहना चाहिए। स्त्रियों की कथा का कहना, स्त्रियों के आसन पर बैठना, उनके अंगोपांगों को देखना, भींत, प्रेच, टाटी के अन्तर पर स्त्री पुरुष सोते हुए हों वहाँ ब्रह्मचारी को नहीं सोना चाहिए। और जो पूर्व में स्त्रियों के साथ कामक्रीड़ा की है उसका स्मरण करना, नित्यप्रति स्निग्ध भोजन करना, परिमाण से अधिक भोजन करना एवं शरीर की शुश्रूषा-विभूषा करना ये सब ब्रह्मचारियों के लिए निषिद्ध हैं। क्योंकि ये दुर्जयी कामभोग ब्रह्मचारी के लिए तालपुट जहर के समान होते हैं।

मूलः—जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥४॥

छायाः—यथा कुक्कुटपोतस्य, नित्यं कुललतो भयम्।
एवं खलु ब्रह्मचारिणः, स्त्रीविग्रहतो भयम् ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (कुक्कुडपोअस्स) मुर्गी के बच्चे को (निच्चं) हमेशा (कुललओ) बिल्ली से (भयं) भय रहता है। (एवं) इसी प्रकार (खु) निश्चय करके (बंभयारिस्स) ब्रह्मचारी को (इत्थीविग्गहओ) स्त्री शरीर से (भयं) भय बना रहता है।

भावार्थः—हे गौतम ! ब्रह्मचारियों के लिए स्त्रियों की विषयजनित वार्ता-लाप तथा स्त्रियों का संसर्ग करना आदि जो निषेध किया है, वह इसलिए है कि जैसे मुर्गी के बच्चे को सदैव बिल्ली से प्राणवध का भय रहता है, अतः

अपनी प्राण रक्षा के लिए वह भागता फिरता रहता है। इसी तरह ब्रह्मचारियों को स्त्रियों के संसर्ग से अपने ब्रह्मचर्य के नष्ट होने का भय सदा रहता है। अतः उन्हें स्त्रियों से सदा सर्वदा दूर रहना चाहिए।

मूल:—जहा बिरालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥५॥

छाया:—यथा बिडालावसथस्य मूले, न मूषकाणां वसतिः प्रशस्ता।
एवमेव स्त्रीनिलयस्य मध्ये, न ब्रह्मचारिणः क्षमो निवासः ॥५॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (बिरालावसहस्स) बिलावों के रहने के स्थानों के (मूले) समीप में (मूसगाणं) चूहों का (वसही) रहना (पसत्था) अच्छा—कल्याणकर (न) नहीं है, (एमेव) इसी तरह (इत्थीनिलयस्स) स्त्रियों के निवासस्थान के (मज्झे) मध्य में (बम्भयारिस्स) ब्रह्मचारियों का (निवासो) रहना (खमो) योग्य (न) नहीं है।

भावार्थ:—हे आर्य! जिस प्रकार बिलावों के निवासस्थानों के समीप चूहों का रहना बिलकुल योग्य नहीं अर्थात् खतरनाक है। इसी तरह स्त्रियों के रहने के स्थान के समीप ब्रह्मचारियों का रहना भी उनके लिए योग्य नहीं है।

मूल:—हत्थपायपडिछिन्नं, कन्ननासविगप्पियं।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥६॥

छाया:—हस्तपादप्रतिच्छिन्नां, कर्णनासाविकल्पिताम्।
वर्षशतिकामापि नारीं, ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ॥६॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति! (हत्थपायपडिछिन्नं) हाथ-पाँव छेदे हुए हों, (कन्ननासविगप्पियं) कान, नासिका विकृत आकार के हों ऐसी (वाससयं) सौ वर्ष वाली (अवि) भी (नारिं) स्त्री का संसर्ग (बंभयारी) ब्रह्मचारी (विवज्जए) छोड़ दे।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसके हाथ-पैर कटे हुए हों, कान-नाक खराब आकार वाले हों, और अवस्था में सौ वर्ष वाली हो, तो भी ऐसी स्त्री के साथ संसर्ग परिचय करना, ब्रह्मचारियों के लिए परित्याज्य है।

मूलः—अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥७॥

छायाः—अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं, चारुल्लपितप्रेक्षितम्।
स्त्रीणां तन्न निध्यायेत्, कामरागविवर्धनम् ॥७॥

अन्वयार्थः— हे इन्द्रभूति ! ब्रह्मचारी (कामरागविवड्ढणं) काम-राग आदि को बढ़ाने वाले ऐसे (इत्थीणं) स्त्रियों के (तं) तत्सम्बन्धी (अंगपच्चंगसंठाणं) सिर नयन आदि आकार-प्रकार और (चारुल्लवियपेहियं) सुन्दर बोलने का ढंग एवं नयनों के कटाक्ष बाण की ओर (न) न (निज्झाए) देखे।

भावार्थः—हे गौतम ! ब्रह्मचारियों को कामराग बढ़ाने वाले जो स्त्रियों के हाथ, पाँव, आँख, नाक, मुँह आदि के आकार-प्रकार हैं उनकी ओर, एवं स्त्रियों के सुन्दर बोलने की ढब तथा उनके नयनों के तीक्ष्ण बाणों की ओर कदापि न देखना चाहिए।

मूलः—णो रक्खसीसु गिज्झिज्जा, गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेलंति जहा वा दासेहिं ॥८॥

छायाः—न राक्षसीषु गृध्येत्, गण्डव-क्षस्स्वनेकचित्तासु।
याः पुरुषं प्रलोभ्य, क्रीडन्ति यथा दासैरिव ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! ब्रह्मचारी को (गंडवच्छासु) फोड़े के समान वक्षस्थल वाली (अणेगचित्तासु) चंचल चित्त वाली (रक्खसीसु) राक्षसी स्त्रियों में (णो) नहीं (गिज्झिज्जा) मुग्ध होना चाहिए, क्योंकि (जाओ) जो स्त्रियाँ (पुरिसं) पुरुष को (पलोभित्ता) प्रलोभित करके (जहा) जैसे (दासेहिं) दास की (वा) तरह (खेलंति) क्रीड़ा कराती हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! ब्रह्मचारियों को फोड़े के समान स्तनवाली एवं चंचल चित्तवाली, जो बातें तो किसी दूसरे से करे, और देखे दूसरे ही की ओर ऐसी अनेक चिलवाली, राक्षसियों के समान स्त्रियों में कभी आसक्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि वे स्त्रियाँ मनुष्यों को विषय-वासना का प्रलोभन दिखा कर अपनी अनेक आज्ञाओं का पालन कराने में उन्हें दासों की भाँति दत्तचित्त रखती हैं।

मूलः—भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे।
बाले य मंदिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥९॥

छायाः—भोगामिषदोषविषण्णः, हितनिश्रेयसबुद्धि विपर्यस्तः।
बालश्च मन्दो मूढः, बध्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (भोगामिसदोसविसन्ने) भोग रूप मांस जो आत्मा को दूषित करने वाला दोष रूप है, उसमें आसक्त होने वाले तथा (हियनिस्सेयसबुद्धि वोच्चत्थे) हितकारक जो मोक्ष है उसको प्राप्त करने की जो बुद्धि है उससे विपरीत वर्ताव करने वाले (य) और (मंदिए) धर्म-क्रिया में आलसी (मूढे) मोह में लिप्त (बाले) ऐसे अज्ञानी जीव कर्मों में बँध जाते हैं और (खेलम्मि) श्लेष्म-कफ में (मच्छिआ) मक्खी की (व) तरह (बज्झई) फँस जाते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! विषय-वासना रूप जो मांस है, यही आत्मा को दूषित करने वाला दोष रूप है। इसमें आसक्त होने वाले तथा हितकारी जो मोक्ष है उसके साधन की बुद्धि से विमुख और धर्म करने में आलसी तथा मोह में लिप्त हो जाने वाले अज्ञानी जन अपने गाढ कर्मों में जैसे मक्खी श्लेष्म (कफ) में लिपट जाती है वैसे ही फँस जाते है।

मूलः—सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥१०॥

छायाः—शल्यं कामा विषं कामाः, कामा आशीविषोपमाः।
कामान् प्रार्थयमाना, अकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥१०॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (कामा) कामभोग (सल्लं) काँटे के समान हैं, (कामा) कामभोग (विसं) विष के समान हैं (कामा)कामभोग (आसीविसोवमा) दृष्टि-विष सर्प के समान हैं, (कामे) कामनाओं की (पत्थेमाणा) इच्छा करने पर (अकामा) बिना ही विषय-वासना सेवन किये यह जीव (दुग्गइं) दुर्गति को (जंति) प्राप्त होता है।

भावार्थ:—हे आर्य ! यह कामभोग चुभने वाले तीक्ष्ण कांटे के समान हैं, विषय-वासना का सेवन करना तो बहुत ही दूर रहा, पर उसकी इच्छा मात्र करने ही में मनुष्यों की दुर्गति होती है।

मूल:—खणमेत्तसुक्खा बहुकालदुक्खा
पगामदुक्खा अनिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥११॥

छाया:—क्षणमात्रसौख्या बहुकालदुःखाः,
प्रकामदुःखा अनिकामसौख्याः ।
संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः,
खानिरनर्थानां तु कामभोगाः ॥११॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (कामभोगा) ये कामभोग (खणमेत्तसुक्खा) क्षण भर सुख देने वाले हैं, पर (बहुकालदुक्खा) बहुत काल तक के लिए दुख रूप हो जाते हैं। अतः ये विषयभोग (पगामदुक्खा) अत्यन्त दुःख देने वाले और (अनिगामसुक्खा) अत्यल्प सुख के दाता हैं। (संसारमोक्खस्स) संसार से मुक्त होने वालों को ये (विपक्खभूया) विपक्षभूत अर्थात् शत्रु के समान हैं। और (अणत्थाण) अनर्थों की (खाणी उ) खदान के समान हैं।

भावार्थ:—हे गौतम ! ये कामभोग केवल सेवन करते समय ही क्षणिक सुखों के देने वाले हैं और भविष्य में वे बहुत अर्से तक दुखदायी होते हैं। इसलिए हे गौतम ! ये भोग अत्यन्त दुख के कारण हैं ; सुख जो इनके द्वारा प्राप्त होता है वह तो अत्यल्प ही होता है। फिर ये भोग संसार से मुक्त होने वाले के लिए पूरे-पूरे शत्रु के समान होते हैं। और सम्पूर्ण अनर्थों को पैदा करने वाले हैं।

मूल:—जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥१२॥

छाया:—यथा किम्पाकफलानां, परिणामो न सुन्दरः ।
एवं भुक्तानां भोगानां, परिणामो न सुन्दरः ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (किंपागफलाणं) किंपाक नामक फलों के खाने का (परिणामो) परिणाम (सुन्दरो) अच्छा (न) नहीं है, (एवं) इसी तरह (भुत्ताण) भोगे हुए (भोगाणं) भोगों का (परिणामो) परिणाम (सुन्दरो) अच्छा (न) नहीं होता है ।

भावार्थः—हे आर्य ! किंपाक नाम के फल खाने में स्वादिष्ट, सूंघने में सुगंधित और आकार-प्रकार से भी मनोहर होते हैं; तथापि खाने के बाद वे फल हलाहल जहर का काम करते है । इसी तरह ये भोग भी भोगते समय तो क्षणिक सुख दे देते हैं। परन्तु उसके पश्चात् ये चौरासी की चक्करफेरी में दुखों का समुद्र रूप हो सामने आड़े आ जाते हैं । उस समय इस आत्मा को बड़ा ही पश्चात्ताप करना पड़ता है ।

मूल:—दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह संति सुव्वया साहू, जे तरंति अपरं वणिया वा ॥१३॥

छाया:—दुःपरित्याज्या इमे कामाः, नसुत्यजा अधीरपुरुषैः ।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः, ये तरन्त्यतरं वणिजो नैव ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (इमे) ये (कामा) कामभोग (दुपरिच्चया) मनुष्यों द्वारा बड़ी ही कठिनता से छूटने वाले होते हैं, ऐसे भोग (अधीर-पुरिसेहिं) कायर पुरुषों से तो (नो) नहीं (सुजहा) सुगमता से छोड़े जा सकते हैं । (अह) परन्तु (सुव्वया) सुव्रत वाले (साहू) अच्छे पुरुष जो (संति) होते हैं (जे) वे (अतरं) तिरने में कठिन ऐसे भव समुद्र को भी (वणियो) वणिक की (वा) तरह (तरंति) तिर जाते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम! इन कामभोगों को छोड़ने में जब बुद्धिमान मनुष्य भी बड़ी कठिनाइयाँ उठाते है, तब फिर कायर पुरुष तो इन्हें सुलभता से छोड़ ही कैसे सकते है? अतः जो शूर, वीर और धीर पुरुष होते हैं, वे ही इस काममोग रूपी समुद्र के परले पार पहुँच सकते हैं, उसी प्रकार संयम आदि व्रत नियमों की धारणा करने वाले पुरुष ही ब्रह्मचर्य रूप जहाज के द्वारा संसार रूपी समुद्र के परले पार पहुँच सकते हैं।

मूलः—उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥१४॥

छायाः—उपलेपो भवति भोगेषु, अभोगी नोपलिप्यते।
भोगी भ्रमति संसारे, अभोगी विप्रमुच्यते ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (भोगेसु) भोग भोगने में कर्मों का (उवलेवो) उपलेप (होइ) होता है। और (अभोगी) अभोगी (नोवलिप्पई) कर्मों से लिप्त नहीं होता है। (भोगी) विषय सेवन करने वाला (संसारे) संसार में (भमइ) भ्रमण करता है। और (अभोगी) विषय सेवन नहीं करने वाला (विप्पमुच्चई) कर्मों से मुक्त होता है।

भावार्थः—हे गौतम! विषय वासना सेवन करने से आत्मा कर्मों के बंधन से बँध जाती है। और उसको त्यागने से वह अलिप्त रहती है। अतः जो काममोगों को सेवन करते हैं वे संसार चक्र में गोता लगाते रहते हैं; और जो इन्हें त्याग देते हैं वे कर्मों से मुक्त होकर अटल सुखों के धाम पर जा पहुँचते हैं।

मूलः—मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स,
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिस्सं दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥१५॥

छाया:—मोक्षाभिकांक्षिणोऽपि मानवस्य,
संसारभीरोः स्थितस्य धर्मे।
नैतादृशं दुस्तरमस्ति लोके,
यथा स्त्रियो बाल मनोहराः ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (मोक्खाभिकंखिस्स) मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले (संसारभीरुस्स) संसार में जन्म-मरण करने से डरने वाले और (धम्मे) धर्म में (ठियस्स) स्थिर है आत्मा जिनकी ऐसे (माणवस्स) मनुष्य को (वि) भी (जहा) जैसे (बालमणोहराओ) मूर्खों के मन को हरण करने वाली (इत्थिओ) स्त्रियों से दूर रहना कठिन है, तब (एयारिसं) ऐसे (लोए) लोक में (दुत्तरं) विषय रूप समुद्र को लांघ जाने के समान दूसरा कोई कार्य कठिन (न) नहीं (अत्थि) है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो मोक्ष की अभिलाषा रखते है, और जन्म-मरणों से भयभीत होते हुए धर्म में अपने आत्मा को स्थिर किये रहते हैं, ऐसे मनुष्यों को भी मूर्खों के मनोरंजन करने वाली स्त्रियों के कटाक्षों को निष्फल करने के समान इस लोक में दूसरा कोई कठिन कार्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि संयमी पुरुषों को इस विषय में सदैव जागरूक रहना चाहिए।

मूलः—एए य संगे समइक्कमित्ता,
सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥१६॥

छायाः—एतांश्च संगान् समतिक्रम्य,
सुखोत्तराश्चैव भवन्ति शेषाः।
यथा महासागरमुत्तीर्य,
नदी भवेदपि गंगासमाना ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति (एए य) इस (संगे) स्त्री-प्रसंग को (समइक्कमित्ता) छोड़ने पर (सेसा) अवशेष धनादि का छोड़ना (चेव) निश्चय करके (सुहुत्तरा) सुगमता से (भवंति) होता है (जहा) जैसे (महासागरं) बड़ा समुद्र (उत्तरित्ता) तिर जाने पर (गंगासमाणा) गंगा के समान (नई) नदी (अवि) भी (भवे) सुख से पार की जा सकती है।

भावार्थः—हे इन्द्रभूति ! जिसने स्त्री-संभोग का परित्याग कर दिया है उसको अवशेष धनादि के त्यागने में कोई भी कठिनाई नहीं होती, अर्थात् शीघ्र ही वह दूसरे प्रपंचों से भी अलग हो सकता है। जैसे—कि महासागर के परले पार जाने वाले के लिए गंगा नदी को लाँघना कोई कठिन कार्य नहीं होता।

मूलः—कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइअं माणसिअं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥१७॥

छायाः—कामानुगृद्धिप्रभवं खलु दुःखं,
सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य।
यत् कायिकं मानसिकं च किञ्चित्,
तस्मान्तिकं गच्छति वीतरागः ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सदेवगस्स) देवता सहित (सव्वस्स) सम्पूर्ण (लोगस्स) लोक के प्राणी मात्र को (कामाणुगिद्धिप्पभवं) कामभोग की अभिलाषा से उत्पन्न होने वाला (खु) ही, (दुक्खं) दुःख लगा हुआ है (जं) जो (काइअं) कायिक (च) और (माणसिअं) मानसिक (किंचि) कोई भी दुख है (तस्स) उसके (अंतगं) अन्त को (वीयरागो) वीतराग पुरुष (गच्छइ) प्राप्त करता है।

भावार्थः—हे गौतम ! भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी आदि सभी तरह के देवताओं से लगाकर सम्पूर्ण लोक के छोटे से प्राणी तक को काम-

भोगों की अभिलाषा से उत्पन्न होने वाला दुख सताता रहता है। उस कायिक और मानसिक दुख का अन्त करने वाला केवल वही मनुष्य है, जिसने काम-भोगों से सदा के लिए अपना मुँह मोड़ लिया है।

मूल:—देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति ते ॥१८॥

छाया:—देवदानवगन्धर्वाः, यक्षराक्षसकिन्नराः ।
ब्रह्मचारिणं नमस्यन्ति, दुष्करं यः करोति तम् ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (दुक्करं) कठिनता से आचरण में आ सके ऐसे ब्रह्मचर्य को (जे) जो (करेंति) पालन करते हैं (ते) उस (बम्भयारिं) ब्रह्मचारी को (देवदाणवगंधव्वा) देव, दानव और गंधर्व (जक्खरक्खसकिन्नरा) यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी तरह के देव (नमंसंति) नमस्कार करते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! इस महान् ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करता है, उसको देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी देव नमस्कार करते हैं। वह लोक में पूज्य हो जाता है।

॥ इति अष्टमोऽध्यायः ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(नवाँ अध्याय)

साधुधर्म-निरूपण

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूल:—सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१॥

छाया:—सर्वे जीवा अपि इच्छन्ति, जीवितुं न मर्तुम् ।
तस्मात् प्राणिवधं घोरं, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति तम् ॥१॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (सव्वे) सभी (जीवा) जीव (जीविउं) जीने की (इच्छंति) इच्छा करते हैं (वि) और (मरिज्जिउं) मरने को कोई जीव (न) नहीं चाहता है । (तम्हा) इसलिए (निग्गंथा) निर्ग्रन्थ साधु (घोरं) रौद्र (पाणिवहं) प्राणीवध को (वज्जयंति) छोड़ते हैं । (णं) वाक्यालंकार ।

भावार्थ:—हे गौतम ! सब छोटे-बड़े जीव जीने की इच्छा करते हैं, पर कोई मरने की इच्छा नहीं करते हैं । क्योंकि जीवित रहना सब को प्रिय है । इसलिए निर्ग्रन्थ साधु महान् दुख के हेतु प्राणीवध को आजीवन के लिए छोड़ देते हैं ।

मूल:—मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहि गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥२॥

छाया:—मृषावादश्च लोके, सर्वसाधुभिर्गर्हितः ।
अविश्वासश्च भूतानां, तस्यान्मृषां विवर्जयेत् ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (लोगम्मि) इस लोक में (य) हिंसा के सिवाय और (मुसावाओ) मृषावाद को भी (सव्वसाहूहि) सब अच्छे पुरुषों ने (गरहिओ) निन्दनीय कहा है। (य) और इस मृषावाद से (भूयाणं) प्राणियों को (अविस्सासो) अविश्वास होता है। (तम्हा) इसलिए (मोसं) झूठ को (विवज्जए) छोड़ देना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम ! इस लोक में हिंसा के सिवाय और भी जो मृषावाद (झूठ) है, वह अच्छे पुरुषों के द्वारा निन्दनीय बताया गया है। झूठ बोलने वाला अविश्वास का पात्र भी होता है। इसलिए साधु पुरुष झूठ बोलना आजीवन के लिए छोड़ देते हैं।

मूलः—चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि, उग्गहंसि अजाइया ॥३॥

छायाः—चित्तवन्तमचित्तं वा, अल्पं वा यदि वा बहुं।
दन्तशोधनमात्रमपि, अवग्रहमयाचित्वा ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अप्पं) अल्प (जइ वा) अथवा (बहुं) बहुत (चित्तमंतं) सचेतन (वा) अथवा (अचित्तं) अचेतन (दंतसोहणमेत्तं पि) दाँत साफ करने का तिनका भी (अजाइया) याचे बिना ग्रहण नहीं करते हैं। (उग्गहंसि) पडियारी वस्तु तक भी गृहस्थ के दिये बिना वे नहीं लेते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! चेतन वस्तु जैसे शिष्य, अचेतन वस्तु वस्त्र, पात्र वगैरह यहाँ तक कि दाँत कुचलने का तिनका वगैरह भी गृहस्थ के दिये बिना साधु कभी ग्रहण नहीं करते हैं, और अवग्रहिक पडियारी वस्तु[1] अर्थात् कुछ समय तक रखकर बाद में सौंपदे, उन चीजों को भी गृहस्थों के दिये बिना साधु कभी नहीं लेते हैं।

मूलः—मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥४॥

---

1 An article of use (for a monk) to be used for a time and then to be returned to its owner.

छाया:—मूलमेतदधर्मस्य, महादोषसमुच्छ्रयम् ।
तस्मान्मैथुनसंसर्गं, निर्ग्रन्थाः परिवर्जयन्तितम् ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एयं) यह (मेहुणसंसग्गं) मैथुन विषयक संसर्ग (अहम्मस्स) अधर्म का (मूलं) मूल है। और (महादोससमुस्सयं) महान् दूषित विकारों को अच्छी तरह से बढ़ाने वाला है। (तम्हा) इसलिए (निग्गंथा) निर्ग्रन्थ साधु मैथुन संसर्ग को (वज्जयंति) छोड़ देते हैं। (णं) वाक्यालंकार में।

भावार्थः—हे गौतम ! यह अब्रह्मचर्य अधर्म उत्पन्न कराने में परम कारण है, और हिंसा, झूठ, चोरी, कपट आदि महान् दोषों को खूब बढ़ाने वाला है। इसलिए मुनिधर्म पालने वाले महापुरुष सब प्रकार से मैथुन संसर्ग का परित्याग कर देते हैं।

मूलः—लोभस्सेसमणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे गिही पव्वइए न से ॥५॥

छाया:—लोभस्यैष अनुस्पर्शः, मन्येऽन्यतरामपि ।
यः स्यात् सन्निधिं कामयेत्, गृही प्रव्रजितो न सः ॥५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (लोभस्स) लोभ की (एस) यह (अणुप्फासो) महत्ता है कि (अन्नयरामवि) गुड़, घी, शक्कर आदि में से कोई एक पदार्थ को भी (जे) जो साधु होकर (सिया) कदाचित् (सन्निहीकामे) अपने पास रात भर रखने की इच्छा करले तो (से) वह (न) न तो (गिही) गृहस्थी है और न (पव्वइए) प्रव्रजित दीक्षित ही है, ऐसा तीर्थंकर (मन्ने) मानते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! लोभ, चारित्र के सम्पूर्ण गुणों को नाश करने वाला है; इसीलिए इसकी इतनी महत्ता है। तीर्थंकरों ने ऐसा माना है और कहा है कि गुड़, घी, शक्कर आदि वस्तुओं में किसी भी वस्तु को साधु हो कर कदाचित् अपने पास रात भर रखने की इच्छा मात्र करे या औरों के पास रखवा लेवे तो वह गृहस्थ भी नहीं है क्योंकि उसके पहनने का वेष साधु का है और वह साधु भी नहीं है क्योंकि जो साधु होते हैं; उनके लिए उपरोक्त कोई भी चीजें रात में रखने की इच्छा मात्र भी करना मना है। अतएव साधु को दूसरे दिन के लिए खाने तक की कोई वस्तु का भी संग्रह करके न रखना चाहिए।

मूलः—जं पि वत्थं व पायं वा कम्बलं पायपुंच्छणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरंति य ॥६॥

छायाः—यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा, कम्बलं पादपुञ्छनम् ।
तदपि संयमलज्जार्थम्, धारयन्ति परिहरन्ति च ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जं) जो (पि) भी (वत्थं) वस्त्र (वा) अथवा (पायं) पात्र (वा) अथवा (कम्बलं) कम्बल (पायपुंच्छणं) पग पोंछने का वस्त्र (तं) उसको (पि) भी (संजमलज्जट्ठा) संयम लज्जा 'रक्षा' के लिए (धारेन्ति) लेते हैं (य) और (परिहरंति) पहनते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! जब यह कह दिया कि कोई भी वस्तु नहीं रखना और वस्त्र पात्र वगैरह साधु रखते हैं, तो भला लोभ के संबंध में इस जगह सहज ही प्रश्न उठता है । किन्तु जो संयम रखने वाला साधु है, वह केवल संयम की रक्षा के हेतु वस्त्र पात्र वगैरह लेता है और पहनता है । इसलिए संयम पालने के लिए उसके साधन वस्त्र, पात्र वगैरह रखने में लोभ नहीं है क्योंकि मुनियों को उनमें ममता नहीं होती ।

॥ सुधर्मोवाच ॥

मूलः—न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥७॥

छायाः—न सः परिग्रह उक्तः, ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा ।
मूर्च्छापरिग्रह उक्तः, इत्युक्तं महर्षिणा ॥७॥

अन्वयार्थः—हे जम्बू ! (सो) संयम की रक्षा के लिए रखे हुए वस्त्र, पात्र वगैरह हैं उनको (परिग्गहो) परिग्रह (ताइणा) त्राता (नायपुत्तेण) महावीर (न) नहीं (वुत्तो) कहा है, किन्तु उन वस्तुओं पर (मुच्छा) मोह रखना वही (परिग्गहो) परिग्रह (वुत्तो) कहा जाता है (इइ) इस प्रकार (महेसिणा) तीर्थंकरों ने (वुत्तं) कहा है ।

भावार्थः—हे जम्बू ! संयम को पालने के लिए जो वस्त्र, पात्र वगैरह रक्खे जाते हैं, उनको तीर्थंकरों ने परिग्रह[1] नहीं कहा है। हाँ, यदि वस्त्र, पात्र आदि पर ममत्व भाव हो, या वस्त्र, पात्र ही क्यों, अपने शरीर पर देखो न, इस पर भी ममत्व यदि हुआ, कि अवश्य वह परिग्रह के दोष से दूषित बन जाता है। और वह परिग्रह का दोष चारित्र के गुणों को नष्ट करने में सहायक होता है।

मूलः—एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं ॥८॥

छायाः—एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम्।
सर्वाहारं न भुञ्जते, निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (च) और (एयं) इस (दोसं) दोष को (दट्ठूणं) देख कर (नायपुत्तेण) तीर्थंकर श्री महावीर ने (भासियं) कहा है। (निग्गंथा) निर्ग्रन्थ जो हैं वे (सव्वाहारं) सब प्रकार के आहार को (राइभोयणं) रात्रि के भोजन अर्थात् रात्रि में (नो) नहीं (भुंजंति) भोगते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! रात्रि के समय भोजन करने में कई तरह के जीव भी खाने में आ जाते हैं। अतः उन जीवों की, भोजन करने वालों से हिंसा हो जाती है। और वे फिर कई तरह के रोग भी पैदा करते हैं। अतः रात्रि-भोजन करने में ऐसा दोष देख कर वीतरागों ने उपदेश किया है कि जो निर्ग्रन्थ[2] होते हैं वे सब प्रकार से खाने-पीने की कोई भी वस्तु का रात्रि में सेवन नहीं करते हैं।

मूलः—पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए न पियावए।
अगणिसत्थं जहा सुनिसियं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥९॥

---

1 Attachment to mammon; the fifth papasthanaka.
2 Possessionless or passionless ascetic.

छाया:—पृथिवीं न खनेन्न खानयेत्
शीतोदकं न पिबेन्न पाययेत् ।
अग्निशस्त्रं यथा सुनिशितम्,
तं न ज्वलेन्न ज्वालयेत् यः स भिक्षुः ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (पुढविं) पृथ्वी को स्वयं (न) नहीं (खणे) खोदे औरों से भी (न) न (खणावए) खुदवावे (सीओदगं) शीतोदक-सचित्तजल को (न) नहीं पीवे, औरों को भी (न) नहीं (पियावए) पिलावे; (जहा) जैसे (सुनिसियं) खूब अच्छी तरह तीक्ष्ण (सत्थं) शस्त्र होता है, उसी तरह (अगणि) अग्नि है (तं) उसको स्वयं (न) नहीं (जले) जलावे, औरों से भी (न) न (जलावए) जलवावे (स) वही (भिक्खू) साधु है।

भावार्थः—हे गौतम ! सर्वथा हिंसा से जो बचना चाहता है वह न स्वयं पृथ्वी को खोदे और न औरों से खुदवावे। इसी तरह न सचित्त (जिसमें जीव हो उस) जल को खुद पीवे और न औरों को पिलावे। उसी तरह न अग्नि को भी स्वयं प्रदीप्त करे और न औरों ही से प्रदीप्त करवावे बस, वही साधु है।

मूलः—अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो,
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥१०॥

छायाः—अनिलेन न बीजयेत् न बीजायेत्,
हरितानि न च्छिंदयेन्नच्छेदयेत् ।
बीजानि सदा विवर्जयन्,
सचित्तं नाहरेद् यः स भिक्षुः ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (अनिलेण) वायु के हेतु पंखे को (न) नहीं (वीए) चलाता है, और (न) न औरों से ही (वीयावए) चलवाता है (हरि-

याणि) वनस्पतियों को स्वतः (न) नहीं (छिंदे) छेदता और (न) न औरों ही से (छिंदावए) छिदवाता है, (बीयाणि) बीजों को छेदना (सया) सदा (विवज्जयंतो) छोड़ता हुआ (सच्चित्तं) सचित्त पदार्थ को जो (न) न (आहारए) खाता है। (स) वही (भिक्खू) साधु है।

भावार्थः—हे गौतम! जिसने इन्द्रिय-जन्य सुखों की ओर से अपना मुंह मोड़ लिया है, वह कभी भी हवा के लिये पंखों का न तो स्वतः प्रयोग करता है और न औरों से उसका प्रयोग करवाता है। और पान, फल, फूल आदि वनस्पतियों का भक्षण छोड़ता हुआ, सचित्त[1] पदार्थों का कभी आहार नहीं करता, वही साधु है। तात्पर्य यह है कि साधु किसी भी प्रकार का हिंसाजनक आरंभ नहीं करते।

मूलः—महुकारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिण्डरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥११॥

छायाः—मधुकरसमा बुद्धाः, ये भवन्त्यनिश्रिताः।
नानापिण्डरता दान्ताः, तेनोच्यन्ते साधवः ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (महुकारसमा) जिस प्रकार थोड़ा-थोड़ा रस लेकर भ्रमर जीवन बिताते हैं, ऐसे ही (जे) जो (दंता) इन्द्रियों को जीतते हुए (नाणापिंडरया) नाना प्रकार के आहार में उद्वेग रहित रहने वाले हैं ऐसे (बुद्धा) तत्त्वज्ञ (अणिस्सिया) नेश्राय रहित (भवंति) होते हैं (तेण) इसी से उन्हें (साहुणो) साधु (वुच्चंति) कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम! जिस प्रकार भ्रमर फूलों पर से थोड़ा-थोड़ा रस लेकर अपना जीवन बिताता है। इसी तरह जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते हुए तीखे, कड़वे, मधुर आदि नाना प्रकार के भोजनों में उद्वेग रहित होते हैं तथा जो समय पर जैसा भी निर्दोष भोजन मिला, उसी को खाकर आनंदमय संयमी जीवन को अनेश्रित होकर बिताते हैं, उन्हीं को हे गौतम! साधु कहते हैं।

---

1 An animate thing; as water, flower, fruit, green grass etc.

मूल:—जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स सामण्णमणुचिट्ठइ ॥१२॥

छाया:—यो न वन्देत् न तस्मै कुप्येत्, वन्दितो न समुत्कर्षेत् ।
एवमन्वेषमाणस्य श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥१२॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो कोई गृहस्थ साधु को (न) नहीं (वंदे) वन्दना करता (से) वह साधु उस गृहस्थ पर (न) न (कुप्पे) क्रोध करे, और (वंदिओ) वंदना करने पर न (समुक्कसे) उत्कर्षता ही दिखावे (एवं) इस प्रकार (अन्नेसमाणस्स) गवेषणा करने वाले का (सामण्णं) श्रामण्य अर्थात् साधुता (अणुचिट्ठइ) रहता है ।

भावार्थ:—हे गौतम ! साधु को कोई वन्दना करे या न करे तो उस गृहस्थ पर वह साधु क्रोधित न हो । साधुता के गुणों पर यदि कोई राजादि मुग्ध हो जाय और वह वन्दनादि करे तो वह साधु गर्वान्वित भी कभी न हो, बस, इस प्रकार चारित्र को दूषित करने वाले दूषणों को देखता हुआ उनसे बाल-बाल बचता रहे उसी का चारित्र[1] अखण्ड रहता है ।

मूल:—पण्णसमत्तो सया जए, समताधम्ममुदाहरे मुणी ।
सुहमे उ सया अलूसए, णो कुज्झे णो माणि माहणे ॥१३॥

छाया:—प्रज्ञा समाप्त: सदा जयेत् समतया धर्म मुदाहरेन्मुनि: ।
सूक्ष्मे तु अलूषक:, न क्रुध्येन्न मानी माहन् ॥१३॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (मुणी) वह साधु (पण्णसमत्ते) समग्र प्रज्ञा करके सहित तथा प्रश्न करने पर उत्तर देने में समर्थ (सया) हमेशा (जए) कषायादि को जीते (समताधम्ममुदाहरे) समभाव से धर्म को कहता हो, और (सया) सदैव (सुहमे) सूक्ष्म चारित्र में (अलूसए) अविराधक हो, उन्हें ताड़ने पर (णो) नहीं (कुज्झे) क्रोधित हो एवं सत्कार करने पर (णो) नहीं (माणि) मानी हो, वही (माहणे) साधु है ।

---

1 Right conduct; ascetic conduct inspired by the subsidence of obstructive Karma.

भावार्थः—हे गौतम ! तीक्ष्ण बुद्धि से सहित हो, प्रश्न करने पर जो शान्ति से उत्तर देने में समर्थ हो, समता भाव से जो धर्मकथा कहता हो, चारित्र में सूक्ष्म रीति से भी जो विराधक न हो, ताड़ने तर्जने पर क्षोभित और सत्कार करने पर गर्वान्वित जो न होता हो, सचमुच में वही साधु पुरुष है।

मूलः—न तस्स जाई व कुलं व ताणं,
णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिन्नं।
णिक्खम्म से सेवइ गारिकम्मं,
ण से पारए होइ विमोयणाए ॥१४॥

छायाः—न तस्य जातिर्वा कुलं वा त्राणं,
नान्यत्र विद्या चरणं सुचीर्णम्।
निष्क्रम्य सः सेवतेऽगारिकर्म,
न सः पारगो भवति विमोचनाय ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सुचिन्नं) अच्छी तरह आचरण किये हुए (चरणं) चारित्र (विज्जा) ज्ञान के (णण्णत्थ) सिवाय (तस्स) उसके (जाई) जाति (व) और (कुलं) कुल (ताणं) शरण (न) नहीं होता है। जो (से) वह (णिक्खम) संसार प्रपंच से निकल कर (गारिकम्मं) पुनः गृहस्थ कर्म (सेवइ) सेवन करता (से) वह (विमोयणाए) कर्म मुक्त करने के लिए (पारए) संसार से परले पार (ण) नहीं (होइ) होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! साधु होकर जाति और कुल का जो मद करता है, इसमें उसकी साधुता नहीं है। प्रत्युत वह गर्व त्राणभूत न होकर हीन जाति और कुल में पैदा करने की सामग्री एकत्रित करता है। केवल ज्ञान एवं क्रिया के सिवाय और कुछ भी परलोक में हित कारक नहीं है। और साधु होकर गृहस्थ जैसे कार्य फिर करता है वह संसार समुद्र से परले पार होने में समर्थ नहीं है।

मूलः—एवं ण से होइ समाहिपत्ते,
जे पन्नवं भिक्खु विउक्कसेज्जा ।
अहवा वि जे लाभमयावलित्ते,
अन्नं जणं खिसति बालपन्ने ॥१५॥

छायाः—एवं न स भवति समाधिप्राप्तः,
यः प्रज्ञया भिक्षुः व्युत्कर्षेत् ।
अथवाऽपि यो लाभमदावलिप्तः,
अन्यं जनं खिसति बालप्रज्ञः ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार से (जे) वह गर्व करने वाला साधु (समाहिपत्ते) समाधि मार्ग को प्राप्त (ण) नहीं (होइ) होता है । और (जे) जो (पन्नवं) प्रज्ञावंत (भिक्खु) साधु होकर (विउक्कसेज्जा) आत्म-प्रशंसा करता है । (अहवा) अथवा (जे) जो (लाभमयावलित्ते) लाभ मद में लिप्त हो रहा है वह (बालपन्ने) मूर्ख (अन्नं) अन्य (जणं) जन की (खिसति) निन्दा करता है ।

भावार्थः—हे गौतम ! मैं जातिवान् हूँ, कुलवान् हूँ इस प्रकार का गर्व करने वाला साधु समाधि मार्ग को कभी प्राप्त नहीं होता है । जो बुद्धिमान् हो कर फिर भी अपने आप ही की आत्म-प्रशंसा करता है, अथवा यों कहता है, कि मैं ही साधुओं के लिये वस्त्र, पात्र आदि का प्रबन्ध करता हूँ । बेचारा दूसरा क्या कर सकता है ? वह तो पेट भरने तक की चिन्ता दूर नहीं कर सकता, इस तरह दूसरों की निन्दा जो करता है, वह साधु कभी नहीं है ।

मूलः—नो पूयणं चेव सिलोयकामी,
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा ।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते,
अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥१६॥

छाया:—न पूजनं चैव श्लोककामी,
प्रियमप्रियं कस्यापि नो कुर्यात्।
सर्वानर्थान् परिवर्जयन्,
अनाकुलश्च अकषायी भिक्षुः ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (भिक्खू) साधु (पूयणं) वस्त्र पात्रादि की (न) इच्छा न करे (चेव) और न (सिलोयकामी) आत्म-प्रशंसा का कामी ही हो (कस्सइ) किसी के साथ (पियमप्पियं) राग और द्वेष (णो) न (करेज्जा) करे (सव्वे) सभी (अणट्ठे) अनर्थकारी बातों को जो (परिवज्जयंते) छोड़ दे (अणाउले) फिर भय रहित (या) और (अकसाइ) कषाय रहित हो।

भावार्थः—हे गौतम ! साधु प्रवचन करते समय वस्त्रादि की प्राप्ति की एवं आत्म-प्रशंसा की वांछा कभी न रखे। या किसी के साथ राग और द्वेष से संबंध रखने वाले कथन को भी वह न कहे। इस प्रकार आत्मा को कलुषित करने वाली सभी अनर्थकारी बातों को छोड़ते हुए भय एवं कषाय रहित होकर साधु को प्रवचन करना चाहिए।

मूलः—जाए सद्धाए निक्खंतो, परियायट्ठाणमुत्तमं।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरियसम्मए ॥१७॥

छाया:—यया श्रद्धया निष्क्रान्तः, पर्यायस्थानमुत्तमम्।
तदेवानुपालयेत् गुणेषु आचार्यसम्मतेषु ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जाए) जिस (सद्धाए) श्रद्धा से (उत्तमं) प्रधान (परियायट्ठाणं) प्रव्रज्यास्थान प्राप्त करने को (निक्खंतो) मायामय कर्मों से निकला (तमेव) वैसी ही उच्च भावनाओं से (आयरियसम्मए) तीर्थंकर कथित (गुणे) गुण (अणुपालिज्जा) पालना चाहिए।

भावार्थः— हे गौतम ! जो गृहस्थ जिस श्रद्धा से प्रधान दीक्षा स्थान प्राप्त करने को मायामय काम रूप संसार से पृथक् हुआ उसी भावना से जीवन-पर्यन्त उसको तीर्थंकर प्ररूपित गुणों में वृद्धि करते रहना चाहिये।

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

□

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(दसवां अध्याय)

प्रमाद-परिहार

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—दुमपत्तए पंडुरए जहा,
निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुआण जीविअं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

छाया:—द्रुमपत्रकं पाण्डुरकं यथा, निपतति रात्रिगणानामत्यये ।
एवं मनुजानां जीवितं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (जहा) जैसे (राइगणाणअच्चए) रात दिन के समूह बीत जाने पर (पंडुरए) पक जाने से (दुमपत्तए) वृक्ष का पत्ता (निवडइ) गिर जाता है (एवं) ऐसे ही (मणुआणं) मनुष्यों का (जीविअं) जीवन है । अतः (समयं) एक समय मात्र के लिए भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः— हे गौतम ! जैसे समय पाकर वृक्ष के पत्ते पीले पड़ जाते हैं; फिर वे पक कर गिर जाते हैं । उसी प्रकार मनुष्यों का जीवन नाशशील है । अतः हे गौतम ! धर्म का पालन करने में एक क्षण मात्र भी व्यर्थ मत गँवाओ ।

मूलः—कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।
एवं मणुआण जीविअं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥

छाया:—कुशाग्र यथाऽवश्यायबिन्दुः, स्तोकं तिष्ठति लम्बमानकः ।
एवं मनुजानां जीवितं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (जह) जैसे (कुसग्गे) कुश के अग्रभाग पर (लंबमाणए) लटकती हुई (ओसबिंदुए) ओस की बूंद (थोवं) अल्प समय (चिट्ठए) रहती है (एवं) इसी प्रकार (मणुआणं) मनुष्य का (जीविअं) जीवन है। अतः (समयं) एक समय मात्र (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! जैसे घास के अग्रभाग पर तरल ओस की बूंद थोड़े ही समय तक टिक सकती है। ऐसे ही मानव शरीर धारियों का जीवन है। अतः हे गौतम ! जरा से समय के लिए भी गाफिल मत रह।

मूलः—इइ इत्तरिअम्मि आउए,
जीविअए बहुपच्चवायए ।
विहुणाहि रयं पुरेकडं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥३॥

छाया:—इतीत्वरे आयुषि, जीवितके बहु प्रत्यवायके ।
विधुनीहि रजः पूराकृतं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥३॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (इइ) इस प्रकार (आउए) निरुपक्रम आयुष्य (इत्तरिअम्मि) अल्प काल का होता हुआ और (जीविअए) जीवन सोपक्रमी होता हुआ (बहुपच्चवायए) बहुत विघ्नों से घिरा हुआ समझ करके (पुरेकडं) पहले की हुई (रयं) कर्म रूपी रज को (विहुणाहि) दूर करो। इस कार्य में (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसे शस्त्र, विष, आदि उपक्रम भी बाधा नहीं पहुंचा सकते, ऐसा निरुपक्रमी (अकाल मृत्यु से रहित) आयुष्य भी थोड़ा होता है। और शस्त्र, विष आदि से जिसे बाधा पहुंच सके ऐसा सोपक्रमी जीवन थोड़ा ही है। उसमें भी ज्वर, खांसी आदि अनेक व्याधियों का विघ्न भरा पड़ा होता है। ऐसा समझ कर हे गौतम ! पूर्व के किये हुए कर्मों को दूर करने में क्षणभर प्रमाद न करो।

मूल:—दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥४॥

छाया:—दुर्लभः खलु मानुष्यो भवः चिरकालेनापि सर्वप्राणिनाम्।
गाढाश्च विपाकाः कर्मणां, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥४॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (सव्वपाणिणं) सब प्राणियों को (चिरकालेण वि) बहुत काल से भी (खलु) निश्चय करके (माणुसे) मनुष्य (भवे) भव (दुल्लहे) मिलना कठिन है। (य) क्योंकि (कम्मुणो) कर्मों के (विवाग) विपाक को (गाढा) नाश करना कठिन है। अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! जीवों को एकेन्द्रिय आदि योनियों में इधर-उधर जन्मते-मरते हुए बहुत काल गया। परन्तु दुर्लभ मनुष्य जन्म नहीं मिला। क्योंकि मनुष्य जन्म के प्राप्त होने में जो रोड़ा अटकाते हैं ऐसे कर्मों का विपाक नाश करने में महान् कठिनाई है। अतः हे गौतम ! मानव देह पाकर पल भर भी प्रमाद मत कर।

मूल:—पुढविकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥५॥

छाया:—पृथिवीकायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥५॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (पुढविकायमइगओ) पृथ्वीकाय में गया हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (संखाईयं) संख्या से अतीत अर्थात् असंख्य (कालं) काल तक (संवसे) रहता है। अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! यह जीव पृथ्वीकाय[1] में जन्म-मरण को धारण करता हुआ उत्कृष्ट असंख्य काल अर्थात् असंख्य अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल तक को बिताता रहता है। अतः हे मानव-देह-धारी गौतम ! तुझे एक क्षण मात्र की भी गफलत करना उचित नहीं है।

मूलः—आउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥६॥
तेउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥७॥
वाउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥८॥

छायाः—अप्कायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥६॥
तेजःकायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥७॥
वायुकायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥८॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (जीवो) जीव (आउक्कायमइगओ) अपकाय को प्राप्त हुआ (उक्कोसं) उत्कृष्ट (संखाईयं) असंख्यात (कालं) काल तक (संवसे) रहता है। अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ॥६॥ इसी तरह (तेउक्कायमइगओ) अग्निकाय को प्राप्त हुआ जीव और (वाउक्कायमइगओ) वायुकाय को प्राप्त हुआ जीव असंख्य काल तक रह जाता है ॥७-८॥

भावार्थः—हे गौतम ! इसी तरह यह आत्मा जल, अग्नि तथा वायु काय में असंख्य काल तक जन्म-मरण को धारण करता रहता है। इसीलिए तो कह

---

1 Body of the living beings of the earth.

जाता है कि मानव-जन्म मिलना महान कठिन है। अतएव हे गौतम ! तुझे धर्म का पालन करने में तनिक भी गाफिल न रहना चाहिए।

मूल:—वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणंतं दुरंतयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥९॥

छाया:—वनस्पतिकायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालमनन्तं दुरन्तं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥९॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (वणस्सइकायमइगओ) वनस्पतिकाय में गया हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (दुरंतयं) कठिनाई से अन्त आवे ऐसा (अणंतं) अनंत (कालं) काल तक (संवसे) रहता है। अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! यह आत्मा वनस्पतिकाय में अपने कृत-कर्मों द्वारा जन्म-मरण करता है, तो उत्कृष्ट अनंत काल तक उसी में गोता लगाया करता है। और इसी से उस आत्मा को मानव शरीर मिलना कठिन हो जाता है। इसलिए हे गौतम ! पल भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

मूल:—बेइंदिअकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसण्णिअं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०॥

छाया:—द्वीन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१०॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (बेइंदिअकायमइगओ) द्वीन्द्रिय योनि को प्राप्त हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (संखिज्जसण्णिअं) संख्या की संज्ञा है जहाँ तक ऐसे (कालं) काल तक (संवसे) रहता है। अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! जब यह आत्मा दो इंद्रियवाली योनियों में आकर जन्म धारण करता है तो काल गणना की जहाँ तक संख्या बताई जाती है वहाँ तक अर्थात् संख्यात काल तक उसी योनि में जन्ममरण को धारण करता रहता है। अतः हे गौतम ! क्षणमात्र का भी प्रमाद न कर।

मूलः—तेइंदियकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसण्णिअं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥११॥

चउरिंदियकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसण्णिअं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१२॥

छायाः—त्रीन्द्रियकायमतिगतः उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥११॥
चतुरिन्द्रियकायमतिगतः उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१२॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (तेइंदियकायमइगओ) तीन इन्द्रियवाली योनि को प्राप्त हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (संखिज्जसण्णिअं) काल गणना की जहाँ तक संख्या बताई जाती है वहाँ तक अर्थात् संख्यात (कालं) काल तक (संवसे) रहता है। इसी तरह (चउरिंदियकायमइगओ) चतुरिंद्रिय वाली योनि को प्राप्त हुए जीव के लिए भी जानना चाहिए अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! जब यह आत्मा तीन इन्द्रिय तथा चार इन्द्रियवाली योनि में जाता है तो अधिक से अधिक संख्यात काल तक उन्हीं योनियों में जन्म-मरण को धारण करता रहता है। अतः हे गौतम ! धर्म की वृद्धि करने में एक पल भर का भी कभी प्रमाद न कर।

मूल:—पंचिंदिकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
सत्तट्ठभवग्गहणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१३॥

छाया:—पंचेन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् ।
सप्ताष्टभवग्रहणानि, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१३॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (पंचिंदियकायमइगओ) पाँच इन्द्रिय वाली योनि को प्राप्त हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (सत्तट्ठभवग्गहणे) सात आठ भव तक (संवसे) रहता है । अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः—हे गौतम ! यह आत्मा पंचेन्द्रियवाली तिर्यंच की योनियों में जब जाता है, तब यह अधिक से अधिक सात आठ भव तक उसी योनि में निवास करता है अतः हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर ।

मूल:—देवे नेरइए अइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
इक्किक्कभवग्गहणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१४॥

छाया:—देवेनैरयिकेष्वतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् ।
एकैकभवग्रहणं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१४॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (देवे) देव (नेरइए) नारकीय भवों में (अइगओ) गया हुआ (जीवो) जीव (इक्किक्कभवग्गहणे) एक एक भव तक उसमें (संवसे) रहता है । अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद कभी मत कर ।

भावार्थः—हे गौतम ! जब यह आत्मा देव अथवा नारकीय भवों में जन्म लेता है तो वहाँ एक एक जन्म तक यह रहता है (बीच में नहीं निकल सकता) अतएव हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

मूल:—एवं भवसंसारे, संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं ।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१५॥

छाया:—एवं भवसंसारे, संसरति शुभाशुभैः कर्मभिः ।
जीवो बहुल प्रमादः, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१५॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (एवं) इस प्रकार (भवसंसारे) जन्म-मरण रूप संसार में (पमायबहुलो) अति प्रमाद वाला (जीवो) जीव (सुहासुहेहिं) शुभ-अशुभ (कम्मेहिं) कर्मों के कारण से (संसरइ) भ्रमण करता रहता है । अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः—हे गौतम ! इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय वाली तिर्यंच योनियों में एवं देव तथा नरक में संख्यात, असंख्यात और अनंत काल तक अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण यह जीव भटकता फिरता है । इसी से कहा गया है कि इस आत्मा को मनुष्य भव मिलना महान् कठिन है । इसलिए मानव-देह-धारी हे गौतम ! अपनी आत्मा को उत्तम अवस्था में पहुंचाने के लिए समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर ।

मूलः—लद्धूण वि माणुसत्तणं,
आरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं ।
बहवे दसुआ मिलक्खुआ,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१६॥

छाया:—लब्ध्वाऽपि मानुषत्वं, आर्यत्वं पुनरपि दुर्लभम् ।
बहवो दस्यवो म्लेच्छाः, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१६॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (माणुसत्तणं) मनुष्यत्व (लद्धूण वि) प्राप्त हो जाने पर भी (पुणरावि) फिर (आरिअत्तं) आर्यत्व का मिलना (दुल्लहं) दुर्लभ है । क्योंकि (बहवे) बहुतों को यदि मनुष्य भव मिल भी गया तो वे (दसुआ) चोर और (मिलक्खुआ) म्लेच्छ हो गये अतः (समयं) समय मात्र का भी (पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः—हे गौतम ! यदि इस जीव को मनुष्य जन्म मिल भी गया तो आर्य होने का सौभाग्य प्राप्त होना महान् दुर्लभ है । क्योंकि बहुत से नाम मात्र

के मनुष्य अनार्य क्षेत्रों में रहकर चोरी वगैरह करके अपना जीवन बिताते हैं। ऐसे नाम मात्र के मनुष्यों की कोटि में और म्लेच्छ जाति में जहाँ कि घोर हिंसा के कारण जीव कभी ऊँचा नहीं उठता ऐसी जाति और देश में जीव ने मनुष्य देह पा भी ली तो किस काम की ? इसलिए आर्य देश में जन्म लेने वाले और कर्मों से आर्य हे गौतम ! एक पल भर का भी प्रमाद मत कर।

मूल:—लद्धूण वि आरियत्तणं,
अहीणपंचिंदियया हु दुल्लहा।
विगलिंदियया हु दीसई,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७॥

छाया:—लब्ध्वाऽप्यार्यत्वं, अहीनपञ्चेन्द्रियता हि दुर्लभा।
विकलेन्द्रियता हि दृश्यते, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१७॥

अन्वयार्थ:—(गोयम !) हे गौतम ! (आरियत्तणं) आर्यत्व के (लद्धूण वि) प्राप्त होने पर भी (हु) पुनः (अहीणपंचिंदियया) अहीन पंचेन्द्रियपन मिलना (दुल्लहा) दुर्लभ है (हु) क्योंकि अधिकतर (विगलिंदियया) विकलेन्द्रिय वाले (दीसई) दीख पड़ते हैं। अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ:—हे गौतम ! मानव-देह आर्य देश में भी पा गया परन्तु सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्ति सहित मानव देह मिलना महान् कठिन है। क्योंकि बहुत से ऐसे मनुष्य देखने में आते हैं कि जिनकी इन्द्रियाँ विकल हैं। जो कानों से बधिर हैं। जो आँखों से अन्धे या पैरों से अपंग हैं। इसलिए सशक्त इन्द्रियों वाले हे गौतम ! चौदहवाँ गुणस्थान प्राप्त करने में कभी आलस्य मत कर।

मूल:—अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे,
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥

छाया:—अहीनपञ्चेन्द्रियत्वमपि स लभते. उत्तमधर्मश्रुतिर्हि दुर्लभा।
कुतीर्थिनिषेवको जनो. समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१८॥

अन्वयार्थः—(गोयम) हे गौतम ! (अहीणपंचिंदियत्तं पि) पाँचों इन्द्रियों की सम्पूर्णता भी (से) वह जीव (लहे) प्राप्त करे तदपि (उत्तमधम्मसुई) यथार्थ धर्म का श्रवण होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। (हु) निश्चय करके, क्योंकि (जणे) बहुत से मनुष्य (कुतित्थिनिसेवए) कुतीर्थी की उपासना करने वाले हैं। अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! पाँचों इन्द्रियों की सम्पूर्णता वाले को आर्य देश में मनुष्य जन्म भी मिल गया तो अच्छे शास्त्र का श्रवण मिलना और भी कठिन है। क्योंकि बहुत से मनुष्य जो इहलौकिक सुखों को ही धर्म का रूप देने वाले हैं कुतीर्थी रूप हैं। नाम मात्र के गुरु कहलाते हैं। उनकी उपासना करने वाले हैं। इसलिए उत्तम शास्त्र श्रोता हे गौतम ! कर्मों का नाश करने में तनिक भी ढील मत कर।

मूलः—लद्धूणवि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥

छाया:—लब्ध्वाऽपि उत्तमां श्रुतिं, श्रद्धानं पुनरपि दुर्लभम्।
मिथ्यात्वनिषेवको जनो, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१९॥

अन्वयार्थः—(गोयम) हे गौतम ! (उत्तमं) प्रधान शास्त्र (सुइं) श्रवण (लद्धूण वि) मिलने पर भी (पुणरावि) पुनः (सद्दहणा) उस पर श्रद्धा होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। क्योंकि (जणे) बहुत से मनुष्य (मिच्छत्तनिसेवए) मिथ्यात्व का सेवन करते हैं। अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! सच्छास्त्र का श्रवण भी हो जाय तो भी उस पर श्रद्धा होना महान् कठिन है। क्योंकि बहुत से ऐसे भी मनुष्य हैं जो सच्छास्त्र श्रवण करके भी मिथ्यात्व का बड़े ही जोरों के साथ सेवन करते हैं। अतः हे श्रद्धावान् गौतम ! सिद्धावस्था को प्राप्त करने में आलस्य मत कर।

मूलः—धम्मं पि हु सद्दहंतया,
दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहि मुच्छिया,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

छायाः—धर्ममपि हि श्रद्धतः, दुर्लभकाः कायेन स्पर्शकाः ।
इह कामगुणैर्मूच्छिताः, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२०॥

अन्वयार्थः—(गोयम) हे गौतम ! (धम्मं पि) धर्म को भी (सद्दहंतया) श्रद्धते हुए (काएण) काया करके (फासया) स्पर्श करना (दुल्लहया) दुर्लभ है (हु) क्योंकि (इह) इस संसार में बहुत से जन (कामगुणेहि) भोगादि के विषयों से (मुच्छिया) मूर्च्छित हो रहे हैं अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः—हे गौतम ! प्रधान धर्म पर श्रद्धा होने पर भी उसके अनुसार चलना और भी कठिन है । धर्म को सत्य कहने वाले वाचाल तो बहुत लोग मिलेंगे पर उसके अनुसार अपना जीवन बिताने वाले बहुत ही थोड़े देखे जावेंगे । क्योंकि इस संसार के काम-भोगों से मोहित होकर अनेकों प्राणी अपना अमूल्य समय अपने हाथों खो रहे हैं। इसलिए श्रद्धापूर्वक क्रिया करने वाले हे गौतम ! कर्मों का नाश करने में एक क्षणमात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूलः—परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
से सोयबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२१॥

छायाः—परिजीर्यति ते शरीरकं, केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तत् श्रोत्रबलं च हीयते, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२१॥

अन्वयार्थः—(गोयम) हे गौतम ! (ते) तेरा (सरीरयं) शरीर (परिजूरइ) जीर्ण होता जा रहा है । (ते) तेरे (केसा) बाल (पंडुरया) सफेद (हवंति) होते जा रहे हैं । (य) और (से) वह शक्ति जो पहले थी (सोयबले) श्रोत्रेन्द्रिय की

शक्ति अथवा "सब्बबले" कान, नाक, आँख, जिह्वा आदि की शक्ति (हायई) हीन होती जा रही है। अतः (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! आये दिन तेरी वृद्धावस्था निकट आती जा रही है। बाल सफेद होते जा रहे हैं। और कान, नाक, आंख, जीभ, शरीर, हाथ, पैर आदि की शक्ति भी पहले की अपेक्षा न्यून होती जा रही है। अतः हे गौतम ! समय को अमूल्य समझ कर धर्म का पालन करने में क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

मूलः—अरई गंडं विसूइया,
आयंका विविहा फुसंति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२॥

छायाः—अरतिर्गण्डं विसूचिका,
आतंका विविधा स्पृशन्ति ते।
विह्रियते विध्वस्यति ते शरीरकं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२२॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (अरई) चित्त को उद्वेग (गंडं) गाँठ, गूमड़े (विसूइया) दस्त, उल्टी और (विविहा) विविध प्रकार के (आयंका) प्राण घातक रोगों को (ते) तेरे जैसे ये बहुत से मानव शरीर (फुसंति) स्पर्श करते हैं (ते सरीरयं) तेरे जैसे ये बहुत मानव से शरीर (विहडइ) बल की हीनता से गिरते जा रहे हैं। और (विद्धंसइ) अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अतः (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! यह मानव शरीर उद्वेग, गाँठ, गूमड़ा, वमन, विरेचन और प्राणघातक रोगों का घर है और अन्त में बलहीन होकर मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है। अतः मानव-शरीर को ऐसे रोगों का घर समझ कर हे गौतम ! मुक्ति को पाने में विलम्ब मत कर।

मूल:—वोच्छिंद सिणेहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं वा पाणियं ।
से सव्वसिणेह वज्जिए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥

छाया:—व्युच्छिन्धि स्नेहमात्मनः, कुमुदं शारदमिव पानीयम् ।
तत् सर्वस्नेहवर्जितः, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२३॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (सारइयं) शरद ऋतु के (कुमुयं) कुमुद (पाणियं) पानी को (वा) जैसे त्याग देते हैं। ऐसे ही (अप्पणो) तू अपने (सिणेहं) स्नेह को (वोच्छिंद) दूर कर (से) इसलिये (सव्वसिणेहवज्जिए) सर्व प्रकार के स्नेह को त्यागता हुआ (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! शरद ऋतु का चन्द्र विकासी कमल जैसे पानी को अपने से पृथक् कर देता है। उसी तरह तू अपने मोह को दूर करने में समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूल:—चिच्चाण धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं ।
मा वंतं पुणो वि आविए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२४॥

छाया:—त्यक्त्वा धनं च भार्यां, प्रव्रजितो ह्यस्य नगारताम् ।
मा वान्तं पुनरप्यापिवेः, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२४॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (हि) यदि तूने (धणं) धन (च) और (भारियं) भार्या को (चिच्चाण) छोड़कर (अणगारियं) साधुपन को (पव्वइओ सि) प्राप्त कर लिया है। अतः (वंतं) वमन किये हुए को (पुणो वि) फिर भी (मा) मत (आविए) पी, प्रत्युत त्याग वृत्ति को निश्चल रखने में (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! तूने धन और स्त्री को त्याग कर साधु वृत्ति को धारण करने की मन में इच्छा करली है। तो उन त्यागे हुए विषैले पदार्थों का पुनः सेवन करने की इच्छा मत कर। प्रत्युत त्याग वृत्ति को दृढ़ करने में एक समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

मूलः—न हु जिणे अज्ज दिस्सई,
बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२५॥

छायाः—न खलु जिनोऽद्य दृश्यते, बहुमतो दृश्यते मार्गदेशकः।
सम्प्रति नैयायिके पथि, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२५॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (अज्ज) आज (हु) निश्चय करके (जिणे) तीर्थंकर (न) नहीं (दिसई) दिखते हैं, किन्तु (मग्गदेसिए) मार्गदर्शक और (बहुमए) बहुतों का माननीय मोक्षमार्ग (दिस्सई) दिखता है। ऐसा कहकर पंचम काल के लोग धर्मध्यान करेंगे। तो भला (संपइ) वर्तमान् में मेरे मौजूद होते हुए (नेयाउए) नैयायिक (पहे) मार्ग में (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! पंचम काल में लोग कहेंगे कि आज तीर्थंकर तो हैं नहीं, पर तीर्थंकर प्ररूपित मार्गदर्शक और अनेकों के द्वारा माननीय यह मोक्षमार्ग है; ऐसा वे सम्यक् प्रकार से समझते हुए धर्म की आराधना करने में प्रमाद नहीं करेंगे। तो मेरे मौजूद रहते हुए न्याय पथ से साध्य स्थान पर पहुँचने के लिए हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूलः—अवसोहियकंटगापहं,
ओइण्णो सि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२६॥

छाया:—अवशोध्य कण्टकपथं, अवतीर्णोऽसि पन्थानं महालयं ।
गच्छसि मार्गं विशोध्य, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२६॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (कंटगापहं) कंटक सहित पंथ को (अवसोहिया) छोड़ कर (महालयं) विशाल मार्ग को (ओइण्णोसि) प्राप्त होता हुआ, उसी (विसोहिया) विशेष प्रकार से शोधित (मग्गं) मार्ग को (गच्छसि) जाता है। अतः इसी मार्ग को तय करने में (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! संकुचित अतथ्य पथ को छोड़ कर जो तूने विशाल तथ्य मार्ग को प्राप्त कर लिया है। और उसके अनुसार तू उसी विशाल मार्ग का पथिक भी बन चुका है। अतः इसी मार्ग से अपने निजी स्थान पर पहुँचने के लिये हे गौतम ! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूलः—अबले जह भारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२७॥

छाया:—अबलो यथा भारवाहकः, मा मार्गं विषममवगाह्य ।
पश्चात्पश्चादनुताप्यते, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२७॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (जह) जैसे (अबले) बलरहित (भारवाहए) बोझा ढोने वाला मनुष्य (विसमे) विषम (मग्गे) मार्ग में (अवगाहिया) प्रवेश हो कर (पच्छा) फिर (पच्छाणुतावए) पश्चाताप करता है। (मा) ऐसा मत बन। परन्तु जो सरल मार्ग मिला है उसको तय करने में (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! जैसे एक दुर्बल आदमी बोझा उठा कर विकट मार्ग में चले जाने पर महान् पश्चात्ताप करता है। ऐसे ही जो नर अल्पज्ञों के द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों को ग्रहण कर कुपंथ के पथिक होंगे, वे चौरासी की चक्र-फेरी में जा पड़ेंगे और वहाँ वे महान् कष्ट उठावेंगे। अतः पश्चात्ताप करने का मौका न आवे ऐसा कार्य करने में हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

मूलः—तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२८॥

छायाः—तीर्णः खल्वस्यर्णवं महान्तं, किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः।
अभित्वरस्व पारं गन्तुं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२८॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (महं) बड़ा (अण्णवं) समुद्र (तिण्णो हु सि) मानो तू पार कर गया (पुण) फिर (तीरमागओ) किनारे पर आया हुआ (किं) क्यों (चिट्ठसि) रुक रहा है। अतः (पारं) परले पार (गमित्तए) जाने के लिए (अभितुर) शीघ्रता कर, ऐसा करने में (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! अपने आप को संसार रूप महान् समुद्र के पार गया हुआ समझ कर फिर उस किनारे पर ही क्यों रुक रहा है ? परले पार होने के लिए अर्थात् मुक्ति में जाने के लिए शीघ्रता कर। ऐसा करने में हे गौतम ! तू क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

मूलः—अकलेवरसेणिमूसिया,
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि।
खेमं च सिवं अणुत्तरं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२९॥

छायाः—अकलेवर श्रेणिमुच्छ्रित्य,
सिद्धिं गौतम ! लोकं गच्छसि।
क्षेमं च शिवमनुत्तरं,
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२९॥

अन्वयार्थः—(गोयम !) हे गौतम ! (अकलेवरसेणि) कलेवर रहित होने में सहायक भूत श्रेणी को (ऊसिआ) बढ़ा कर अर्थात् प्राप्त कर (खेमं) पर चक्र का भय रहित (च) और (सिवं) उपद्रव रहित (अणुत्तरं) प्रधान (सिद्धि) सिद्ध (लोयं) लोक को (गच्छसि) जाना ही है, फिर (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः—हे गौतम ! सिद्ध पद पाने में जो शुभ अध्यवसाय रूप क्षपक श्रेणि सहायभूत है, उसे पाकर एवं उत्तरोत्तर उसे बढ़ाकर, भय एवं उपद्रव रहित अटल सुखों का जो स्थान है, वहीं तुझे जाना है। अतः हे गौतम ! धर्म आराधना करने में पल मात्र की भी ढील मत कर।

इस प्रकार निर्ग्रन्थ की ये सम्पूर्ण शिक्षाएँ प्रत्येक मानव देह-धारी को अपने लिए भी समझनी चाहिए और धर्म की आराधना करने में पल भर का भी प्रमाद कभी न करना चाहिए।

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय ग्यारहवाँ)

भाषा-स्वरूप

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा ।
जा य बुद्धेहिऽणाइण्णा, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥१॥

छायाः—या च सत्याऽवक्तव्या, सत्यामृषा च या मृषा ।
या च बुद्धैर्नाचीर्णा, न तां भाषेत प्रज्ञावान् ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जा) जो (सच्चा) सत्य भाषा है, तदपि वह (अवत्तव्वा) नहीं बोलने योग्य (य) और (जा) जो (सच्चामोसा) कुछ सत्य कुछ असत्य ऐसी मिश्रित भाषा (य) और (मुसा) झूँठ, इस प्रकार (जा) जो भाषाएं (बुद्धेहि) तीर्थंकरों द्वारा (अणाइण्णा) अनाचीर्ण हैं (तं) उन भाषाओं को (पन्नवं) प्रज्ञावान् पुरुष (न भासिज्ज) कभी नहीं बोलते ।

भावार्थः—हे गौतम ! सत्य भाषा होते हुए भी यदि सावद्य है तो वह बोलने के योग्य नहीं है, और कुछ सत्य कुछ असत्य ऐसी मिश्रित भाषा तथा बिलकुल असत्य ऐसी जो भाषाएं हैं जिनका कि तीर्थंकरों ने प्रयोग नहीं किया और बोलने के लिए निषेध किया है, ऐसी भाषा बुद्धिमान् मनुष्य को कभी नहीं बोलनी चाहिये ।

मूलः—असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं ।
समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥२॥

छाया:—असत्यामृषां सत्यां च, अनवद्यामकर्कशाम् ।
समुत्प्रेक्ष्याऽसंदिग्धां गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (असच्चमोसं) व्यावहारिक भाषा (च) और (अणवज्ज) वद्य रहित (अकक्कसं) कर्कशता रहित (असंदिद्धं) संदेहरहित (समुप्पेहं) विचार कर ऐसी (सच्चं) सत्य (गिरं) भाषा (पन्नव) बुद्धिमान् (भासिज्ज) बोले ।

भावार्थः—हे गौतम ! सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं ऐसी व्यावहारिक भाषा जैसे वह गाँव आ रहा है आदि और किसी को कष्ट न पहुँचे वैसी एवं कर्णप्रिय तथा संदेहरहित ऐसी भाषा को भी बुद्धिमान् पुरुष समयानुसार विचार कर बोलते हैं ।

मूलः—तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥३॥

छाया:—तथैव परुषा भाषा, गुरु भूतोपघातिनी ।
सत्याऽपि सा न वक्तव्या, मतः पापस्यागमः ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तहेव) इसी प्रकार (फरुसा) कठोर (गुरुभूओवघाइणी) अनेकों प्राणियों का नाश करने वाली (सच्चा वि) सत्य है तो भी (जओ) जिससे (पावस्स) पाप का (आगमो) आगमन होता है (सा) वह भाषा (वत्तव्वा) बोलने योग्य (न) नहीं है ।

भावार्थः—हे गौतम ! जो मनुष्य कहलाते हैं उनके लिए कठोर एवं जिससे अनेकों प्राणियों की हिंसा हो, ऐसी सत्य भाषा भी बोलने योग्य नहीं होती है। यद्यपि वह सत्य भाषा है, तदपि वह हिंसाकारी भाषा है, उसके बोलने से पाप का आगमन होता है, जिससे आत्मा भारवान् बनती है ।

मूलः—तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहिअं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥४॥

छाया:—तथैव काणं काण इति,
पण्डकं पण्डक इति वा।
व्याधिमन्तं वाऽपि रोगीति,
स्तेनं चौर इति न वदेत् ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तहेव) वैसे ही (काणं) काने को (काणे) काना है (त्ति) ऐसा (वा) अथवा (पंडगं) नपुंसक को (पंडगे) नपुंसक है (त्ति) ऐसा (वा) अथवा (वाहिअं) व्याधिवाले को (रोगि) रोगी है (त्ति) ऐसा और (तेणं) चोर को (चोरे) चोर है (त्ति) ऐसा (नो) नहीं (वए) बोलना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम ! जो मनुष्य कहलाते है वे काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, व्याधि वाले को रोगी और चोर को चोर ऐसा कभी नहीं बोलते हैं। क्योंकि वैसा बोलने में भाषा भले ही सत्य हो, पर ऐसा बोलने से उनका दिल दुखता है। इसीलिए यह असत्य भाषा है, और इसे कभी न बोलना चाहिए।

मूलः—देवाणं मणुयाणं च, तिरियाणं च वुग्गहे।
अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए ॥५॥

छायाः—देवानां मनुजानां च, तिरश्चां च विग्रहे।
अमुकानां जयो भवतु, मा वा भवत्विति नो वदेत् ॥५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (देवाणं) देवताओं के (च) और (मणुयाणं) मनुष्यों के (च) और (तिरियाणं) तिर्यंचों के (वुग्गहे) युद्ध में (अमुगाणं) अमुक की (जओ) जय (होउ) हो (वा) अथवा अमुक की (मा) मत (होउ) हो (त्ति) ऐसा (नो) नहीं (वए) बोलना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम ! देवता, मनुष्य और तिर्यंचों में जो परस्पर युद्ध हो रहा हो उसमें भी अमुक की जय हो अथवा अमुक की पराजय हो, ऐसा कभी नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि एक की जय और दूसरे की पराजय बोलने से एक प्रसन्न होता है और दूसरा नाराज होता है। और जो बुद्धिमान् मनुष्य, ज्ञानीजन होते हैं वे किसी को दुःखी नहीं करते हैं।

मूलः—तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघाइणी ।
से कोह लोह भयसा व हासमाणो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥६॥

छायाः—तथैव सावद्यानुमोदिनी गिरा,
अवधारिणी या च परोपघातिनी ।
तां क्रोधलोभभयहास्येभ्यो मानवः,
न हसन्नपि गिरं वदेत् ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (माणवो) मनुष्य (हासमाणो) हँसता हुआ (वि) भी (गिरं) भाषा को (न) न (वएज्जा) बोले (य) और (तहेव) वैसे ही (से) वह (कोह) क्रोध से (लोह) लोभ से (भयसा) भय से (सावज्जणुमोयणी) सावद्य अनुमोदन के साथ (ओहारिणी) निश्चित और (परोवघाइणी) दूसरे जीवों की हिंसा करने वाली, ऐसी (जा) जो (गिरा) भाषा है, उसको न बोले ।

भावार्थः—हे गौतम ! बुद्धिमान् मनुष्य वह है जो हड़-हड़ हँसता हुआ भी कभी नहीं बोलता है और इसी तरह सावद्य भाषा का अनुमोदन करके तथा निश्चयकारी और दूसरे जीवों को दुःख देने वाली भाषा कभी नहीं बोलता है ।

मूलः—अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अंतरा ।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥७॥

छायाः—अपृष्ठो न भाषेत, भाषमाणस्यान्तरा ।
पृष्ठमांसं न खादेत्, मायामृषां विवर्जयेत् ॥७॥

अन्वयार्थः— हे इन्द्रभूति ! बुद्धिमान मनुष्यों को (भासमाणस्स) बोलते हुए के (अन्तरा) बीच में (अपुच्छिओ) नहीं पूछने पर (न) नहीं (भासिज्ज) बोलना चाहिए और (पिट्ठिमंसं) चुगली भी (न) नहीं (खाएज्जा) खानी चाहिए एवं (मायामोसं) कपटयुक्त असत्य बोलना (विवज्जए) छोड़ना चाहिए ।

भावार्थः—हे गौतम ! बुद्धिमान् वह है, जो दूसरे बोल रहे हों उनके बीच में उनके पूछे बिना न बोले और जो उनके परोक्ष में उनके अवगुणों को भी कभी न बोलता हो, तथा जिसने कपटयुक्त असत्य भाषा को भी सदा के लिए छोड़ रखा हो।

मूलः—सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वइमए कण्णसरे स पुज्जो ॥८॥

छायाः—शक्याः सोढुमाशयाकण्टकाः,
अयोमया उत्साहमानेन नरेण।
अनाशया यस्तु स हेत कण्टकान्,
वाङ्मयान् कर्णशरान् सः पूज्यः ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (उच्छहया) उत्साही (नरेणं) मनुष्य (आसाइ) आशा से (अओमया) लोहमय (कंटया) कंटक या तीर (सहेउं) सहने को (सक्का) समर्थ है। परन्तु (कण्णसरे) कान के छिद्रों में प्रवेश करने वाले (कंटए) काँटे के समान (वइमए) वचनों को (अणासए) बिना आशा से (जो) जो (सहेज्ज) सहन करता है (स) वह (पुज्जो) श्रेष्ठ है।

भावार्थः—हे गौतम ! उत्साहपूर्वक मनुष्य अर्थ-प्राप्ति की आशा से लोह खण्ड के तीर और काँटों तक की पीड़ा को खुशी-खुशी सहन कर जाते हैं। परन्तु उन्हें वचन रूपी कण्टक सहन होना बड़ा ही कठिन मालूम होता है। तो फिर आशा रहित होकर कठिन वचन सुनना तो बहुत ही दुष्कर है। परन्तु बिना किसी भी प्रकार की आशा के, कानों के छिद्रों द्वारा कण्टक के समान वचनों को सुन कर जो सह लेता है, बस उसी को श्रेष्ठ मनुष्य समझना चाहिए।

मूलः—मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥९॥

छाया:—मुहूर्त्तं दुःखास्तु भवन्ति कण्टकाः,
अयोमयास्तेऽपि ततः सूद्धराः ।
वाचा दुरुक्तानि दुरुद्धराणि,
वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अओमया) लोह निर्मित (कंटया) काँटों से (उ) तो (मुहुत्तदुक्खा) मूहूर्त्त मात्र दुख (हवंति) होता है (ते वि) वह भी (तओ) उस शरीर से (सुउद्धरा) सुखपूर्वक निकल सकता है । परन्तु (वेराणुबंधीणि) वैर को बढ़ाने वाले और (महब्भयाणि) महाभय को उत्पन्न करने वाले (वायादुरुत्ताणि) कहे हुए कठिन वचनों का (दुरुद्धराणि) हृदय से निकलना मुश्किल है ।

भावार्थः—हे गौतम ! लोह निर्मित कण्टक-तीर से तो कुछ समय तक ही दुःख होता है, और वह भी शरीर से अच्छी तरह निकाला जा सकता है । किन्तु कहे हुए तीक्ष्ण मार्मिक वचन वैर को बढ़ाते हुए नरकादि दुःखों को प्राप्त कराते हैं । और जीवन पर्यन्त उन कटु वचनों का हृदय से निकलना महान् कठिन है ।

मूलः—अवण्णवायं च परंमुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥१०॥

छायाः—अवर्णवादं च पराङ्मुखस्य,
प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकां च भाषाम् ।
अवधारिणीमप्रियकारिणीं च,
भाषां न भाषेत् सदा सः पूज्यः ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (परंमुहस्स) उस मनुष्य के बिना मौजूदगी में (च) और (पच्चक्खओ) उसके प्रत्यक्ष रूप में (अवण्णवायं) अवर्णवाद (भासं)

भाषा को (सया) हमेशा (न) नहीं (भासेज्ज) बोलना चाहिए (च) और (पडिणीयं) अपकारी (उहारिणिं) निश्चयकारी (अप्पियकारिणिं) अप्रियकारी (भासं) भाषा को भी हमेशा जो नहीं बोलता हो (स) वह (पुज्जो) पूजनीय मानव है।

भावार्थः – हे गौतम ! जो प्रत्यक्ष या परोक्ष में अवगुणवाद के वचन कभी भी नहीं बोलता हो। जैसे तू चोर है। पुरुषार्थी पुरुष को कहना कि तू नपुंसक है। ऐसी भाषा तथा अप्रियकारी, अपकारी, निश्चयकारी भाषा जो कभी नहीं बोलता हो, वह पूजनीय मानव है।

मूलः—जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जइ ॥११॥

छायाः—यथा शुनी पूतिकर्णी, निःकास्यते सर्वतः।
एवं दुःशीलः प्रत्यनीकः, मुखारिर्निःकास्यते ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जाह) जैसे (पूइकण्णी) सड़े कान वाली (सुणी) कुत्तिया को (सव्वसो) सब जगह से (निक्कसिज्जइ) निकालते हैं। (एवं) इसी प्रकार (दुस्सील) खराब आचरण वाले (पडिणीए) गुरु और धर्म से द्वेष करने वाले और (मुहरी) अंट संट बड़बड़ाने वाले को (निक्कसिज्जइ) कुल में से बाहर निकाल देते हैं।

भावार्थः– हे गौतम ! सड़े कान वाली कुत्तिया को सब जगह धुत्कार मिलता है और वह हर जगह से निकाली जाती है। इसी तरह दुराचारियों एवं धर्म से द्वेष करने वालों और मुंह से कटुवचन बोलने वालों को सब जगह से धुत्कारा मिलता है। और वहाँ से निकाल दिया जाता है।

मूलः—कणकुण्डगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥१२॥

छायाः—कणकुण्डकं त्यक्त्वा, विष्टां भुङ्क्ते शूकरः।
एवं शीलं त्यक्त्वाः दुःशीलं रमते मृगः ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! जैसे (सूयरे) शूकर (कणकुंडगं) धान के कूंड़े को (चइत्ताणं) छोड़ कर (विट्ठं) विष्टा ही को (भुंजइ) खाता है, (एवं) इसी तरह (मिए) पशु के समान मूर्ख मनुष्य (सीलं) अच्छी प्रवृत्ति को (चइत्ताणं) छोड़ कर (दुस्सीले) खराब प्रवृत्ति ही में (रमई) आनंद मानता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार सुअर धान्य के भोजन को छोड़ कर विष्टा ही खाता है, इसी तरह मूर्ख मनुष्य सदाचार-सेवन और मधुर भाषण आदि अच्छी प्रवृत्ति को छोड़ कर दुराचार-सेवन करने तथा कटुभाषण करने ही में आनंद मानता रहता है, परन्तु उस मूर्ख मनुष्य को इस प्रवृत्ति से अन्त में बड़ा पश्चात्ताप करना पड़ता है।

मूलः—आहच्च चंडालियं कट्टु,
न निण्हविज्ज कयाइ वि।
कडं कडेत्ति भासेज्जा,
अकडं णो कडेत्ति य ॥१३॥

छायाः—कदाचिच्च चाण्डालिकं कृत्वा,
न निह्नुवीत कदापि च।
कृतं कृतमिति भाषेत,
अकृतं नो कृतमितिच ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति (आहच्च) कदाचित् (चंडालियं) क्रोध से झूठ भाषण हो गया हो तो झूठ भाषण (कट्टु) करके उसको (कयाइ) कभी (वि) भी (न) न (निण्हविज्ज) छिपाना चाहिए (कडं) किया हो तो (कडेत्ति) किया है ऐसा (भासेज्जा) बोलना चाहिए (य) और (अकडं) नहीं किया हो तो (णो) नहीं (कडेत्ति) किया ऐसा बोलना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम ! कभी किसी से क्रोध के आवेश में आकर झूठ भाषण हो गया हो तो उसका प्रायश्चित्त करने के लिए उसे कभी भी नहीं छिपाना चाहिए। कटुभाषण किया हो तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए कि हाँ मुझसे हो तो गया है। और नहीं किया हो तो ऐसा कह देना चाहिए कि मैंने नहीं किया है।

मूलः—पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा ।
आवी वा जइ वा रहस्से, णेव कुज्जा कयाइ वि ॥१४॥

छायाः—प्रत्यनीकं च बुद्धानां, वाचाऽथवा कर्मणा ।
आविर्वा यदि वा रहसि, नैव कुर्यात् कदापि च ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (बुद्धाणं) तत्त्वज्ञ (च) और सभी साधारण मनुष्यों से (पडिणीयं) शत्रुता (वाया) वचन द्वारा और (अदुव) अथवा (कम्मुणा) काया द्वारा (आवीवा) मनुष्यों के देखते कपट रूप में (जइ वा) अथवा (रहस्से) एकान्त में (कयाइ वि) कभी भी (णेव) नहीं (कुज्जा) करना चाहिए ।

भावार्थः—हे गौतम ! क्या तो तत्त्वज्ञ और क्या साधारण सभी मनुष्यों के साथ कटुवचनों से तथा शरीर द्वारा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में कभी भी शत्रुता करना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती ।

मूलः—जणवयसम्मयठवणा, नामे रूवे पडुच्च सच्चे य ।
ववहारभावजोगे, दसमे ओवम्म सच्चे य ॥१५॥

छायाः—जनपद-सम्यक्त्वस्थापना च, नाम रूपं प्रतीत्य सत्यं च ।
व्यवहारभावे योगानि दशमौपमिकं सत्यं च ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जणवय) अपने अपने देश की (य) और (सम्मयठवणा) एकमत की, स्थापना की (नामे) नाम की (रूवे) रूप की (पडुच्च सच्चे) अपेक्षा से कही हुई (य) और (ववहार) व्यावहारिक (भाव) भाव ली हुई (जोगे) योगिक (य) और (दसमे) दशवीं (ओवम्म) औपमिक भाषा (सच्चे) सत्य है ।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस देश में जो भाषा बोली जाती हो, जिसमें अनेकों का एकमत हो, जैसे पंक से और भी वस्तु पैदा होती है, पर कमल ही को पंकज कहते हैं जिसमें एकमत है । नापने के गज और तोलने के बाँट

वगैरह को जितना लम्बा और जितना वजन में लोगों ने मिलकर स्थापन कर रक्खा हो। गुण सहित या गुण शून्य जिसका जैसा नाम हो, वैसा उच्चारण करने में, जिसका जैसा वेष हो उसके अनुसार कहने में, और अपेक्षा से, जैसे एक की अपेक्षा से पुत्र और दूसरे की अपेक्षा से पिता उच्चारण करने में जो भाषा का प्रयोग होता है, वह सत्य भाषा है। और ईंधन के जलने पर भी चूल्हा जल रहा है, ऐसा व्यावहारिक उच्चारण एवं लोक में पाँचों वर्णों के होते हुए भी "हरा" ऐसा भावमय वचन और अमुक सेठ क्रोड़पति है फिर भले दो चार हजार अधिक हों या कम हों उसको क्रोड़पति कहने में। एवं दशवीं उपमा में जिन वाक्यों का उच्चारण होता है, वह सत्य भाषा है। यों दस प्रकार की भाषाओं को ज्ञानी जनों ने सत्य भाषा कहा है।

मूलः—कोहे माणे माया, लोभे पेज्ज तहेव दोसे य।
हासे भए अक्खाइय, उवघाए निस्सिया दसमा ॥१६॥

छायाः—क्रोधं मानं माया, लोभं रागं तथैव द्वेषञ्च।
हास्यं भयं आख्यातिकः उपघातो निःश्रितो दशमाः ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (कोहे) क्रोध (माणे) मान (माया) कपट (लोभे) लोभ (पेज्ज) राग (तहेव) वैसे ही (दोसे) द्वेष (य) और (हासे) हँसी (य) और (भए) भय और (अक्खाइय) कल्पित व्याख्या (दसमा) दशवीं (अवघाए) उपघात के (निस्सिया) आश्रित कही हुई भाषा असत्य है।

भावार्थः—हे गौतम! क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, हास्य और भय से बोली जाने वाली भाषा तथा काल्पनिक व्याख्या और दशवीं उपघात (हिंसा) के आश्रित जिस भाषा का प्रयोग किया गया हो, वह असत्य भाषा है। इस प्रकार की भाषा बोलने से आत्मा की अधोगति होती है।

मूलः—इणमन्नं तु अन्नाणं इहमेगेसिमाहियं।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्तं ति आवरे ॥१७॥
ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे।
जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए ॥१८॥

सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥१६॥
माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे ।
असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वदे ॥२०॥

छाया:—इदमन्यत्तु अज्ञानं, इहैकेतदाख्यातम् ।
देवाप्तोऽयं लोकः, ब्रह्मोप्त इत्यपरे ॥१७॥
ईश्वरेण कृतोलोकः प्रधानादिना तथाऽपरे ।
जीवाजीवसमायुक्तः, सुखदुःखसमन्वितः ॥१८॥
स्वयम्भुवा कृतो लोकः इत्युक्तं महर्षिणा ।
मारेण संस्तुता माया, तेन लोकोऽशाश्वतः ॥१९॥
माहनाः श्रमणा एके, आहुरण्डकृतं जगत् ।
असौ तत्त्वमकार्षीत्, अजानन्तः मृषा वदन्ति ॥२०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (इह) इस संसार में (मेगेसिं) कई एक (अन्नं) अन्य (अन्नाणं) अज्ञानी (इणं) इस प्रकार (आहियं) कहते है कि (अयं) इस (जीवाजीव समाउत्ते) जीव और अजीव पदार्थ से युक्त (सुहदुक्खसमन्निए) सुख और दुखों से युक्त ऐसा (लोए) लोक (देवउत्ते) देवताओं ने बनाया है (आवरे) और दूसरे यों कहते हैं कि (बंभउत्तेति) ब्रह्मा ने बनाया है । कोई कहते हैं कि (लोए) लोक (ईसरेण) ईश्वर ने (कडे) बनाया है (तहावरे) तथा दूसरे यों कहते हैं कि (पहाणाइ) प्रकृति ने बनाया है तथा नियति ने बनाया है । कोई बोलते हैं कि (लोए) लोक (सयंभुणा) विष्णु ने (कडे) बनाया है । फिर मार "मृत्यु" बनाई । (मारेण) मृत्यु से (माया) माया (संथुया) पैदा की (तेण) इसी से (लोए) लोक (असासए) अशाश्वत है । (इति) ऐसा (महेसिणा) महर्षियों ने (वुत्तं) कहा है । और (एगे) कई एक (माहणा) ब्राह्मण (समणा) संन्यासी (जगे) जगत् (अंडकडे) अण्डे से उत्पन्न हुआ ऐसा (आह) कहते हैं । इस प्रकार (असो) ब्रह्मा ने (तत्तमकासी य) तत्त्व बनाया ऐसा कहने वाले (अयाणंता) तत्त्व को नहीं जानते हुए (मुसं) झूठ (वदे) कहते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! इस संसार में ऐसे भी लोग हैं, जो कहते है कि जड़ और चेतन स्वरूप एवं सुख-दुख युक्त जो यह लोक है, इसकी इस प्रकार की रचना देवताओं ने की है। कोई कहते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि बनाई है। कोई ऐसा भी कहते हैं कि ईश्वर ने जगत् की रचना की है। कोई यों बोलते हैं कि सत्व, रज, तम, गुण की सम अवस्था को प्रकृति कहते हैं। उस प्रकृति ने इस संसार की रचना की है। कोई यों भी मानते हैं कि जिस प्रकार कांटे तीक्ष्ण, मयूर के पंख विचित्र रंग वाले, गन्ने में मिठास, लहसुन में दुर्गन्ध, कमल सुगंधमय स्वभाव से ही होते हैं; ऐसे ही सृष्टि की रचना भी स्वभाव से ही होती है। कोई इस प्रकार कहते हैं कि इस लोक की रचना में स्वयंभू विष्णु अकेले थे। फिर सृष्टि रचने की चिन्ता हुई जिससे शक्ति पैदा हुई। तदनंतर सारा ब्रह्माण्ड रचा और इतनी विस्तार वाली सृष्टि की रचना होने पर यह विचार हुआ कि इस का समावेश कहाँ होगा ? इसलिए जन्मे हुओं को मारने के लिए यम बनाया। उसने फिर माया को जन्म दिया। कोई यों कहते हैं कि पहले ब्रह्मा ने अण्डा बनाया। फिर वह फूट गया। जिसके आधे का ऊर्ध्व लोक और आधे का अधोलोक बन गया और उसमें उसी समय समुद्र, नदी, पहाड़, गाँव आदि सभी की रचना हो गई। इस तरह सृष्टि बनायी। ऐसा उनका कहना, हे गौतम ! सत्य से पृथक है।

मूलः—सएहिं परियाएहिं, लोयं बूया कडे त्ति य।
तत्तं ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाइ वि॥२१॥

छायाः स्वकैः प्रर्यायैः लोकमब्रुवन् कृतमिति च।
तत्त्वं ते न विजानन्ति, न विनाशी कदापि च॥२१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! जो (सएहिं) अपनी-अपनी (परियाएहिं) पर्याय कल्पना करके (लोयं) लोक को अमुक अमुक ने (कडे त्ति) बनाया है, ऐसा (बूया) बोलते हैं। (ते) वे (तत्तं) यथातथ्य तत्त्व को (ण) नहीं (विजाणंति) जानते हैं। क्योंकि लोक (कयाइ वि) कभी भी (विणासी) नाशवान (ण) नहीं है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो लोग यह कहते हैं कि इस सृष्टि को ईश्वर ने, देवताओं ने, ब्रह्मा ने तथा स्वयंभू ने बनाया है उनका यह कहना अपनी अपनी कल्पना मात्र है वास्तव में यथातथ्य बात को वे जानते ही नहीं हैं। क्योंकि यह लोक सदा अविनाशी है। न तो इस सृष्टि के बनने का आदि ही है और न अन्त ही है। हाँ, कालानुसार इसमें परिवर्तन होता रहता है परन्तु सम्पूर्ण रूप से सृष्टि का नाश कभी नहीं होता है।

॥ इति एकादशोऽध्यायः ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय बारहवाँ)

लेश्या-स्वरूप

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं ॥१॥

छायाः—कृष्णा नीला च कापोती च, तेजः पद्मा तथैव च ।
शुक्ललेश्या च षष्ठी च, नामानि तु यथाक्रमम् ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (किण्हा) कृष्ण (य) और (नीला) नील (य) और (काऊ) कापोत (य) और (तेऊ) तेजो (तहेव) तथा (पम्हा) पद्म (य) और (छट्ठा) छठी (सुक्कलेसा) शुक्ल लेश्या (नामाइं) ये नाम (जहक्कमं) यथाक्रम जानो ।

भावार्थः—हे आर्य ! पुण्य-पाप करते समय आत्मा के जैसे परिणाम होते हैं उसे यहाँ लेश्या के नाम से पुकारेंगे । वह लेश्या[1] छः भागों में विभक्त है उनके यथाक्रम से नाम यों हैं—(१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तेजः (५) पद्म और (६) शुक्ल लेश्या । हे गौतम ! कृष्णलेश्या का स्वरूप यों हैं:—

---

१ (१) कृष्णलेश्या वाले की भावना यों होती है कि अमुक को मार डालो, काट डालो, सत्यानाश कर दो आदि-आदि । (२) नीललेश्या के परिणाम वे हैं जो कि दूसरे के प्रति, हाथ-पैर तोड़ डालने के हों (३) कापोतलेश्या भावना उन मनुष्यों की है जो कि नाक, कान, अंगुलियाँ आदि को कष्ट पहुँचाने में तत्पर हों । (४) तेजोलेश्या के भाव वह है जो दूसरे को लात, घूँसा, मुक्की आदि से कष्ट पहुँचाने में अपनी बुद्धिमत्ता समझता हो । (५) पद्मलेश्या वाले की भावना इस प्रकार होती है कि कठोर शब्दों की बौछार करने में आनन्द मानता हो । (६) शुक्ललेश्या के परिणाम वाला अपराध करने वाले के प्रति भी मधुर शब्दों का प्रयोग करता है ।

मूलः—पंचासवप्पवत्तो, तीहि अगुत्तो छसु अविरओय ।
तिव्वारंभपरिणओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो ॥२॥
निद्धंधसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदिओ ।
एअजोगसमाउत्तो, किण्हलेसं तु परिणमे ॥३॥

छायाः—पञ्चास्रवप्रवृत्तस्त्रिभिरगुप्त षट्सु अविरतश्च ।
तीव्रारम्भ परिणतः क्षुद्रः साहसिको नरः ॥२॥
निध्वंसपरिणामः, नृशंसोऽजितेन्द्रियः ।
एतद्योग समायुक्तः, कृष्णलेश्यां तु परिणमेत् ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पंचासवप्पवत्तो) हिंसादि पाँच आस्रवों में प्रवृत्ति करने वाला (तीहि) मन, वच, काय के तीनों योगों को बुरे कामों में जाते हुए को (अगुत्तो) नहीं रोकने वाला (य) और (छसु) षट्काय जीवों की हिंसा से (अविरओ) निवृत्त नहीं होने वाला (तिव्वारंभपरिणओ) तीव्र है आरम्भ करने में लगा हुआ (खुद्दो) क्षुद्र बुद्धि वाला, (साहस्सिओ) अकार्य करने में साहसिक (निद्धंधसपरिणामो) नष्ट करने वाले हिताहित के परिणाम को और (निस्संसो) निःशंक रूप से पाप करने वाला (अजिइंदिओ) इन्द्रियों को न जीतने वाला (एअजोगसमाउत्तो) इस प्रकार के आचरणों से युक्त (नरो) मनुष्य (किण्हलेसं) कृष्णलेश्या के (परिणमे) परिणाम वाले होते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसकी प्रवृत्ति हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और ममता में अधिकतर फँसी हुई हो, एवं मन द्वारा जो हर एक का बुरा चिंतवन करता हो, जो कटु और मर्मभेदी बोलता हो, जो प्रत्येक के साथ कपट का व्यवहार करने वाला हो, जो बिना प्रयोजन के भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय के जीवों की हिंसा से निवृत्त न हुआ हो, बहुत जीवों की हिंसा हो ऐसे महारम्भ के कार्य करने में तीव्र भावना रखता हो, हमेशा जिसकी बुद्धि तुच्छ रहती हो, अकार्य करने में बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के जो प्रवृत्त हो जाता हो, निःसंकोच भावों से पापाचरण करने में जो रत हो, इन्द्रियों को प्रसन्न रखने में अनेक दुष्कार्य जो करता हो, ऐसे मार्गों में जिस

किसी भी आत्मा की प्रवृत्ति हो वह आत्मा कृष्णलेश्या वाली है। ऐसी लेश्या वाला फिर चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, मर कर नीची गति में जावेगा। हे गौतम! नीललेश्या का वर्णन यों है—

मूल:—इस्साअमरिस अतवो, अविज्ज माया अहीरिया य।
गेद्धी पओसे य सढे, पमत्ते रसलोलुए ॥४॥
सायगवेसए य आरम्भा अविरओ,
खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एअजोगसमाउत्तो,
नीललेसं तु परिणमे ॥५॥

छाया:—ईर्ष्याऽमर्षातपः, अविद्या मायाऽह्रिकता।
गृद्धिः प्रद्वेषश्च शठः, प्रमत्तो रसलोलुपः ॥४॥
सातागवेषकश्चारंभादविरतः क्षुद्रः, साहसिको नरः।
एतद्योगसमायुक्तः, नीललेश्यां तु परिणमेत् ॥५॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति! (इस्सा) ईर्ष्या (अमरिस) अत्यन्त क्रोध, (अतवो) अतप (अविज्ज) कुशास्त्र पठन (माया) कपट (अहीरिया) पापाचार के सेवन करने में निर्लज्ज (गेद्धी) गृद्धपन (य) और (पओसे) द्वेषभाव (सढे) धर्म में मंद स्वभाव (पमत्ते) मदोन्मत्तता (रसलोलुए) रसलोलुपता (सायगवेसए) पौद्गलिक सुख की अन्वेषणा (अ) और (आरम्भा) हिंसादि आरम्भ से (अविरओ) अनिवृत्ति (खुद्दो) क्षुद्र भावना (साहस्सिओ) अकार्य में साहसिकता (एअजोग-समाउत्तो) इस प्रकार के आचरणों से युक्त (नरो) जो मनुष्य है, वे (नीललेसं) नीललेश्या को (परिणमे) परिणमित होते हैं।

भावार्थ:—हे गौतम! जो दूसरों के गुणों को सहन न करके रात-दिन उनसे ईर्ष्या करने करने वाला हो, बात-बात में जो क्रोध करता हो। खा-पी कर जो सण्ड-मुसण्ड बना रहता हो, पर कभी भी तपस्या न करता हो, जिनसे अपने जन्म-मरण की वृद्धि हो ऐसे कुशास्त्रों का पठन-साठन करने वाला हो, कपट करने में किसी भी प्रकार की कोर कसर न रखता हो, जो भली बात कहने वाले के साथ द्वेष-भाव रखता हो, धर्म कार्य में शिथिलता दिखाता हो, हिंसादि महारम्भ से तनिक भी अपने मन को न रोकता हो, दूसरों के अनेकों

गुणों की तरफ दृष्टिपात तक न करते हुए उसमें जो एकआध अवगुण हो, उसी की ओर निहारने वाला हो, और अकार्य करने में बहादुरी दिखाने वाला हो, जिस आत्मा का ऐसा व्यवहार हो, उसे नीललेश्यी कहते हैं। इस तरह की भावना रखने वाला व उसमें प्रवृत्ति करने वाला चाहे कोई पुरुष हो, या स्त्री वह मर अधोगति में ही जायगा।

मूल:—वंके वंकसमायरे, नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचगओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥६॥
उप्फालग दुट्ठवाई य, तेणे आवि य मच्छरी।
एअजोगसमाउत्तो, काऊलेसं तु परिणमे ॥७॥

छाया:— वक्रो वक्रसमाचारः, निकृतिमाननृजुकः।
परिकुंचक औपधिकः, मिथ्यादृष्टिरनार्यः ॥६॥
उत्स्यार्शक दुष्टवादी च, स्तेनश्चापिचमत्सरी।
एतद्योगसमायुक्तः, कापोतलेश्यां तु परिणमेत् ॥७॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति! (वंके) वक्र भाषण करना (वंकसमायरे) वक्र क्रिया अंगीकार करना, (नियडिल्ले) मन में कपट रखना, (अनुज्जए) टेढ़ेपन से रहना (पलिउंचग) स्वकीय दोषों को ढँकना, (ओवहिए) सब कामों में कपटता (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यात्व में अभिरुचि रखना (अणारिए) अनार्य प्रवृत्ति करना (य) और (तेणे) चोरी करना (अविमच्छरी) फिर मात्सर्य रखना (एअजोगसमाउत्तो) इस प्रकार के व्यवहारों से जो युक्त हो वह (काऊलेस) कापोतलेश्या को (परिणमे) परिणमित होता है।

भावार्थ:—हे गौतम! जो बोलने में सीधा न बोलता हो, व्यापार भी जिसका टेढ़ा हो दूसरे को न जान पड़े ऐसे मानसिक कपट से व्यवहार करता हो, सरलता जिसके दिल को छूकर भी न निकली हो, अपने दोषों को ढँकने की भरपूर चेष्टा जो करता हो, जिसके दिनभर के सारे कार्य छल-कपट से भरे पड़े हों, जिसके मन में मिथ्यात्व की अभिरुचि बनी रहती हो, जो अमानुषिक कामों को भी कर बैठता हो, जो वचन ऐसे बोलता हो कि जिससे प्राणिमात्र को त्रास होता हो, दूसरों की वस्तु को चुराने में ही अपने मानव जन्म की सफलता समझता हो, मात्सर्य से युक्त हो, इस प्रकार के व्यवहारों में जिस

आत्मा की प्रवृत्ति हो, वह कापोतलेश्यी कहलाता है। ऐसी भावना रखने वाला चाहे पुरुष हो या स्त्री, वह मर कर अधोगति में जावेगा। हे गौतम ! तेजोलेश्या के सम्बन्ध में यों हैं—

मूलः—नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥८॥
पियधम्मे दढधम्मेऽवज्जभीरू हिएसए।
एयजोगसमाउत्तो, तेऊलेसं तु परिणमे ॥९॥

छायाः—नीचवृत्तिरचपलःअमाय्यकुतूहलः।
विनीतविनयो दान्तः, योगवानुपधानवान् ॥८॥
प्रियधर्मा दृढधर्मा, अवद्यभीरुर्हितैषिकः।
एतद्योगसमायुक्तः, तेजोलेश्यां तु परिणमेत् ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (नीयावित्ती) जिसकी वृत्ति नम्र स्वभाव वाली हो (अचवले) अचपल (अमाई) निष्कपट (अकुऊहले) कुतूहल से रहित (विणीयविणए) अपने से बड़ों का विनय करने में विनीत वृत्ति वाला (दन्ते) इन्द्रियों को दमन करने वाला (जोगवं) शुभ योगों को लाने वाला (उवहाणवं) शास्त्रीय विधि से तप करने वाला (पियधम्मे) जिसकी धर्म में प्रीति हो, (दढधम्मे) दृढ है मन धर्म में जिसका (अवज्जभीरू) पाप से डरने वाला (हिएसए) हित को ढूँढने वाला, मनुष्य (तेऊलेसं) तेजोलेश्या को (तु परिणमे) परिणमित होता है।

भावार्थः—हे आर्य ! जिसकी प्रकृति नम्र है, जो स्थिर बुद्धिवाला है, जो निष्कपट है, हँसी-मजाक करने का जिसका स्वभाव नहीं है, बड़ों का विनय कर जिसने विनीत की उपाधि प्राप्त करली है, जो जितेन्द्रिय है, मानसिक, वाचिक, और कायिक इन तीनों योगों के द्वारा जो कभी किसी का अहित न चाहता हो, शास्त्रीय विधि-विधान युत् तपस्या करने में दत्तचित्त रहता हो, धर्म में सदैव प्रेम भाव रखता हो, चाहे उस पर प्राणान्तक कष्ट ही क्यों न आ जावे, पर धर्म में जो दृढ रहता है, किसी जीव को कष्ट न पहुँचे ऐसी भाषा जो बोलता हो, और हितकारी मोक्ष धाम को जाने के लिए शुद्ध क्रिया करने की गवेषणा जो करता रहता हो, वह तेजोलेश्यी कहलाता है। जो जीव इस प्रकार की

भावना रखता हो वह मर कर ऊर्ध्वगति अर्थात् परलोक में उत्तम स्थान को प्राप्त होता है। हे गौतम ! पद्मलेश्या का वर्णन यों है:—

मूलः—पयणुक्कोहमाणे य, मायालोभे य पयणुए ।
पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥१०॥
तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए ।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥११॥

छायाः—प्रतनुक्रोधमानश्च, मायालोभौ च प्रतनुकौ ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, योगवानुपधानवान् ॥१०॥
तथा प्रतनुवादी च, उपशान्तो जितेन्द्रियः ।
एतद्योगसमायुक्तः, पद्मलेश्यां तु परिणमेत् ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पयणुक्कोहमाणे) पतले हैं क्रोध और मान जिसके (अ) और (मायालोभे) माया तथा लोभ भी जिसके (पयणुए) अल्प है, (पसंतचित्ते) प्रशान्त है चित्त जिसका (दंतप्पा) जो आत्मा को दमन करता है, (जोगवं) जो मन, वचन, काया के शुभ योगों को प्रवृत्त करता है, (उवहाणवं) जो शास्त्रीय तप करता है, (तहा) तथा (पयणुवाई) जो अल्पभाषी है और वह भी सोच-विचार कर बोलता है, (य) और (उवसंते) शान्त है स्वभाव जिसका, (य) और (जिइंदिए) जो इन्द्रियों को जीतता हो, (एयजोगसमाउत्तो) इस प्रकार की प्रवृत्ति वाला जो मनुष्य हो, वह (पम्हलेसं) पद्म लेश्या को (तु परिणमे) परिणमित होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसको क्रोध, मान, माया, लोभ कम हैं, जो सदैव शान्त चित्त रहता है, आत्मा का जो दमन करता है, मन, वचन, काया के शुभ योगों में जो अपनी प्रवृत्ति करता है, शास्त्रीय विधि से तप करता है, सोच-विचार कर जो मधुर भाषण करता है, जो शरीर के अंगोपांगों को शान्त रखता है। इन्द्रियों को हर समय जो काबू में रखता है, वह पद्मलेश्यी कहलाता है। इस प्रकार की भावना का एवं प्रवृत्ति का जो मनुष्य अनुशीलन करता है, वह मनुष्य मर कर ऊर्ध्वगति में जाता है। हे गौतम ! शुक्ल लेश्या का कथन यों है—

मूलः—अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि झायए ।
पसंतचित्ते दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥१२॥
सरागो वीयरागो वा, उवसंते जिइंदिए ।
एयजोगसमाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥१३॥

छायाः—आर्तरौद्रे वर्जयित्वा, धर्मशुक्ले ध्यायति ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, समितो गुप्तश्च गुप्तिभिः ॥१२॥
सरागो वीतरागो वा, उपशांतो जितेन्द्रियः ।
एतद्योग समायुक्तः, शुक्ललेश्यांतु परिणमेत् ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अट्टरुद्दाणि) आर्त और रौद्र ध्यानों को (वज्जित्ता) छोड़कर (धम्मसुक्काणि) धर्म और शुक्ल ध्यानों को (झायए) जो चिंतवन करता हो, (पसंतचित्ते) प्रशान्त है चित्त जिसका (दंतप्पा) दमन किया है अपनी आत्मा को जिसने (समिए) जो पाँच समिति करके युक्त हो, (य) और (गुत्तिसु) तीन गुप्ति से (गुत्ते) गुप्त है (सरागो) जो सराग (वा) अथवा (वीयरागो) वीतराग संयम रखता हो, (उवसंते) शांत है चित्त और (जिइंदिए) जो जितेन्द्रिय है, (एयजोगसमाउत्तो) ऐसे आचरणों से जो युक्त है, वह मनुष्य (सुक्कलेसं) शुक्ल लेश्या को (तु परिणमे) परिणमित होता है ।

भावार्थः—हे आर्य ! जो आर्त और रौद्र ध्यानों को परित्याग करके सदैव धर्मध्यान और शुक्लध्यान का चिन्तवन करता है । क्रोध, मान, माया और लोभ आदि के शान्त होने से प्रशान्त हो रहा है चित्त जिसका, सम्यक्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र से जिसने अपनी आत्मा को दमन कर रखा है, चलने, बैठने, खाने, पीने, आदि सभी व्यवहारों में संयम रखता है, मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति से जिसने अपनी आत्मा गोपी है, सराग यद्वा वीतराग संयम जो रखता है, जिसका चेहरा शान्त है, इन्द्रियजन्य विषयों को विष समझकर उन्हें जिसने छोड़ रखे हैं, वही आत्मा शुक्ललेश्यी है। यदि इस अवस्था में मनुष्य मरता है तो वह ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है ।

मूलः—किण्हा नीला काऊ तिण्णि वि,
एयाओ अहमलेस्साओ ।
एयाहिं तिहिं वि जीवो,
दुग्गइं उववज्जई ॥१४॥

छायाः—कृष्णा नीला कापोता, तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः, दुर्गतिमुपपद्यते ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (किण्हा) कृष्ण (नीला) नील (काऊ) कापोत (एयाओ) ये (तिण्णि) तीनों (वि) ही (अहमलेसाओ) अधर्म लेश्याएँ हैं। (एयाहिं) इन (तिहिं) तीनों (वि) ही लेश्याओं से (जीवो) जीव (दुग्गइं) दुर्गति को (उववज्जई) प्राप्त करता है।

भावार्थः—हे गौतम ! कृष्ण, नील और कापोत, इन तीनों को ज्ञानी जनों ने अधर्म लेश्याएँ (अधर्म भावनाएँ) कहा है। इस प्रकार की अधर्म भावनाओं से जीव दुर्गति में जाकर महान् कष्टों को भोगता है। अतः ऐसी बुरी भावनाओं को कभी भी हृदयंगम न होने देना, यही श्रेष्ठ मार्ग है।

मूलः—तेऊ पम्हा सुक्का,
तिण्णि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहिं तिहिं वि जीवो,
सुग्गइं उववज्जई ॥१५॥

छायाः—तेजसी पद्मा शुक्ला, तिस्रोऽप्येता धर्मलेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः, सुगतिमुपपद्यते ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तेऊ) तेजो (पम्हा) पद्म और (सुक्का) शुक्ल (एयाओ) ये (तिण्णि) तीनों (वि) ही (धम्म लेसाओ) धर्म लेश्याएँ हैं। (एयाहिं) इन (तिहिं) तीनों (वि) ही लेश्याओं से (जीवो) जीव (सुग्गइं) सुगति को (उववज्जई) प्राप्त करता है।

भावार्थः—हे आर्य ! तेजो, पद्म और शुक्ल, ये तीनों, ज्ञानी जन द्वारा धर्म लेश्याएँ (धर्म भावनाएँ) कही गयी हैं। इस प्रकार धर्म भावना रखने से वह जीव यहाँ भी प्रशंसा का पात्र होता है, और मरने के पश्चात् भी वह सुगति ही में जाता है। अतएव मनुष्यों को चाहिए कि वे अपनी भावनाओं को सदा शुभ या शुद्ध रक्खें। जिससे उस आत्मा को मोक्ष धाम मिलने में विलम्ब न हो।

मूलः—अन्तमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव।
लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ॥१६॥

छायाः—अन्तर्मुहूर्त्ते गते, अन्तर्मुहूर्त्ते शेषे चैव।
लेश्याभिः परिणताभिः, जीवा गच्छन्ति परलोकम् ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (परिणयाहिं) परिणमित हो गयी है (लेसाहिं) लेश्या जिसके ऐसा (जीवा) जीव (अंतमुहुत्तम्मि) अन्तर्मुहूर्त (गए) होने पर (चेव) और (अंतमुहुत्तम्मि) अन्तर्मुहूर्त (सेसए) अवशेष रहने पर (परलोयं) परलोक को (गच्छंति) जाते हैं।

भावार्थः—हे आर्य ! मनुष्य और तिर्यञ्चों के अन्तिम समय में, योग्य वा अयोग्य, जिस किसी भी स्थान पर उन्हें जाना होता है उसी स्थान के अनुसार उनकी भावना मरने के अन्तर्मुहूर्त पहले आती है और वह भावना उसने अपने जीवन में भले और बुरे कार्य किये होंगे उसी के अनुसार अन्तिम समय में वैसी ही लेश्या (भावना) उसकी होगी और देवलोक तथा नरक में रहे हुए देव और नेरिया मरने के अन्तर्मुहूर्त पहले अपने स्थानानुसार लेश्या (भावना) ही में मरेंगे।

मूलः—तम्हा एयासि लेसाणं, अणुभावं वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणी ॥१७॥

छायाः—तस्मादेतासां लेश्यानां, अनुभावं विज्ञाय।
अप्रशस्तास्तु वर्जयित्वा, प्रशस्ता अधितिष्ठेत् मुनिः ॥१७॥

अन्वयार्थः—(तम्हा) इसलिए (एयासि) इन (लेसाणं) लेश्याओं के (अणुभावं) प्रभाव को (वियाणिया) जानकर (अप्पसत्थाओ) बुरी लेश्याओं (भावनाओं) को (परिवज्जिया) छोड़कर (पसत्थाओ) अच्छी प्रशस्त लेश्याओं को (मुणी) मुनि (अहिट्ठिए) अंगीकार करे।

भावार्थः—हे भले-बुरे के फल जानने वाले ज्ञानी साधु जनो ! इस प्रकार छहों लेश्याओं का स्वरूप समझ कर इनमें से बुरी लेश्याओं (भावनाओं) को तो कभी भी अपने हृदय तक में फटकने मत दो और अच्छी भावनाओं को सदैव हृदयंगम करके रखो इसी में मानव-जीवन की सफलता है।

॥ इति द्वादशोऽध्यायः ॥

□

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय तेरहवाँ)

कषाय-स्वरूप

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः—कोहो अ माणो अ अणिग्गहीआ,
माया अ लोभो अ पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥१॥

छायाः—क्रोधश्च मानश्चातिगृहीतौ,
माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ ।
चत्वार एते कृत्स्नाः कषायाः,
सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अणिग्गहीआ) अनिगृहीत (कोहो) क्रोध (अ) और (माणो) मान (पवड्ढमाणा) बढ़ता हुआ (माया) कपट (अ) और (लोभो) लोभ (एए) ये (कसिणा) सम्पूर्ण (चत्तारि) चारों ही (कसाया) कषाय (पुणब्भवस्स) पुनर्जन्म रूप वृक्ष के (मूलाइं) मूलों को (सिंचंति) सींचते हैं ।

भावार्थः—हे आर्य ! जिसका निग्रह नहीं किया है ऐसा क्रोध और मान तथा बढ़ता हुआ कपट और लोभ ये चारों ही सम्पूर्ण कषाय पुनः-पुनः जन्म-मरण रूप वृक्ष के मूलों को हरा-भरा रखते हैं । अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों ही कषाय दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं ।

मूलः—जे कोहणे होइ जगट्ठभासी,
विओसियं जे उ उदीरएज्जा ।
अंधे व से दंडपहं गहाय,
अविओसिए धासति पावकम्मी ॥२॥

छायाः—यः क्रोधनो भवति जगदर्थभाषी,
व्यपशमितं यस्तु उदीरयेत् ।
अन्ध इव सदण्डपथं गृहीत्वा,
अव्यपशमितं घृष्यति पापकर्मा ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (कोहणे) क्रोधी (होइ) होता है वह (जगट्ठभासी) जगत् के अर्थ को कहने वाला है । (उ) और (जे) वह (विओसियं) उपशान्त क्रोध को (उदीरएज्जा) पुनः जागृत करता है । (व) जैसे (अंधे) अन्धा (दंडपहं) लकड़ी (गहाय) ग्रहण कर मार्ग में पशुओं से कष्ट पाता हुआ जाता है, ऐसे ही (से) वह (अविओसिए) अनुपशान्त (पावकम्मी) पाप करने वाला (धासति) चतुर्गति रूप मार्ग में कष्ट उठाता है ।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसने बात-बात में क्रोध करने का स्वभाव कर रक्खा है, वह जगत् के जीवों में अपने कर्मों से लूलापन, अन्धापन, बधिरता, आदि न्यूनताओं को अपनी जिह्वा के द्वारा सामने रख देता है और जो कलह उपशान्त हो रहा है, उसको पुनः चेतन कर देता है । जैसे अन्धा मनुष्य लकड़ी को लेकर चलते समय मार्ग में पशुओं आदि से कष्ट पाता है, ऐसे ही वह महाक्रोधी चतुर्गति रूप मार्ग में अनेक प्रकार के जन्म-मरणों का दुख उठाता रहता है ।

मूलः—जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता,
संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा ।
तवेण वाहं सहिउं त्ति मत्ता,
अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं ॥३॥

छाया:—यश् चापि आत्मानं वसुमान् मत्वा,
संख्यां च वादमपरीक्ष्य कुर्यात् ।
तपसा वाऽहं सहित इति मत्वा,
अन्यं जनं पश्यति बिम्बभूतम् ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे आवि) जो अल्पमति है, वह (अप्पं) अपनी आत्मा को (वसुमंति) संयमवान् है, ऐसा (मत्ता) मान कर और (संखाय) अपने को ज्ञानवान् समझता हुआ (अप्परिक्ख) परमार्थ को नहीं जानकर (वायं) वाद-विवाद करता है। (अहं) मैं (तवेण) तपस्या करके (सहिउत्ति) सहित हूं, ऐसा (मत्ता) मानकर (अण्णं) दूसरे (जणं) मनुष्य को (बिंबभूयं) केवल आकार मात्र (पस्सति) देखता है।

भावार्थः—हे आर्य ! जो अल्प मतिवाला मनुष्य है, वह अपने ही को संयमवान् समझता है और कहता है कि मेरे समान संयम रखने वाला कोई दूसरा है ही नहीं। जिस प्रकार मैं ज्ञान वाला हूं, वैसा दूसरा कोई है ही नहीं, इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता का ढिंढोरा पीटता फिरता है। तथा तपवान् भी मैं ही हूं ऐसा मानकर वह दूसरे मनुष्य को गुणशून्य और केवल मनुष्याकार मात्र ही देखता है। इस प्रकार मान करने से वह मानी, पायी हुई वस्तु से हीनावस्था में जा गिरता है।

मूलः—पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए ।
बहुं पसवइ पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ॥४॥

छाया:—पूजनार्थो यशस्कामी, मानसन्मानकामुकः ।
बहु प्रसूते पापं, मायाशल्यं च कुरुते ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पूयणट्ठा) ज्यों की त्यों अपनी शोभा रखने के अर्थ (जसोकामी) यश का कामी और (माणसम्माण) मान सम्मान का (कामए) चाहने वाला (बहुं) बहुत (पावं) पाप (पसवइ) पैदा करता है (च) और (मायासल्लं) कपट शल्य को (कुव्वइ) करता है।

भावार्थ—हे गौतम ! जो मनुष्य पूजा, यश, मान और सम्मान का भूखा है, वह इनकी प्राप्ति के लिए अनेक तरह के प्रपंच करके अपने लिए पाप पैदा करता है और साथ ही कपट करने में भी वह कुछ कम नहीं उतरता है।

मूलः—कसिणं पि जो इमं लोगं,
पडिपुण्णं दलेज्जं इक्कस्स ।
तेणावि से न संतुस्से,
इइ दुप्पूरए इमे आया ॥५॥

छायाः—कृत्स्नमपि य इमं लोकं, प्रतिपूर्णं दद्यादेकस्मै ।
तेनापि स न संतुष्येत्, इति दुःपूरकोऽयमात्मा ॥५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जो) यदि (इक्कस्स) एक मनुष्य को (पडिपुण्णं) धन-धान्य से परिपूर्ण (इमं) यह (कसिणं पि) सारा ही (लोगं) लोक (दलेज्ज) दे दिया जाय तो (तेणावि) उससे भी (से) वह (न) नहीं (संतुस्से) संतोषित होता है। (इइ) इस प्रकार से (इमे) यह (आया) आत्मा (दुप्पूरए) इच्छा से पूर्ण नहीं हो सकता है।

भावार्थः—हे गौतम ! वैश्रमण देव किसी मनुष्य को हीरे, पन्ने, माणिक मोती तथा धन-धान्य से भरी हुई सारी पृथ्वी दे देवे तो भी उससे उसको संतोष नहीं हो सकता है। अतः इस आत्मा की इच्छा को पूर्ण करना महान् कठिन है।

मूलः—सुवण्णरूप्पस उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिआ ॥६॥

छायाः—सुवर्णरूप्ययोः पर्वता भवेयुः,
स्यात्कदाचित्खलु कैलाशसमा असंख्यकाः ।
नरस्य लुब्धस्य न तैः किंचित्,
इच्छा हि आकाशसमा अनन्तिका ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (कैलाससमा) कैलाश पर्वत के समान (सुवण्ण-रूपस्स) सोने, चाँदी के (असंखया) अगणित (पव्वया) पर्वत (हु) निश्चय (भवे) हों और वे (सिया) कदाचित् मिल गये, तदपि (तेहि) उससे (लुद्धस्स) लोभी (नरस्स) मनुष्य की (किंचि) किंचित् मात्र भी तृप्ति (न) नहीं होती है, (हु) क्योंकि (इच्छा) तृष्णा (आगाससमा) आकाश के समान (अणंतिया) अनंत है।

भावार्थः—हे गौतम ! कैलाश पर्वत के समान लम्बे-चौड़े असंख्य पर्वतों के जितने सोने-चाँदी के ढेर किसी लोभी मनुष्य को मिल जायें तो भी उसकी तृष्णा पूर्ण नहीं होती है। क्योंकि जिस प्रकार आकाश का अन्त नहीं है, उसी प्रकार इस तृष्णा का भी कभी अन्त नहीं आता है।

मूलः—पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥७॥

छायाः—पृथिवी शालिर्यवाश्चैव, हिरण्यं पशुभिःसह।
प्रतिपूर्णं नालमेकस्मै, इति विदित्वा तपश्चरेत् ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (साली) शालि (जव) जौ, यव (चेव) और (पसु-भिस्सह) पशुओं के साथ (हिरण्णं) सोने वाली (पडिपुण्णं) सम्पूर्ण भरी हुई (पुढवी) पृथ्वी (एगस्स) एक की तृष्णा को बुझाने के लिए (नालं) समर्थवान् नहीं है। (इइ) इस तरह (विज्जा) जान कर (तवं) तप रूप मार्ग में (चरे) विचरण करना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम ! शालि, जव, सोना, चाँदी और पशुओं से परिपूर्ण पृथ्वी भी किसी एक मनुष्य की इच्छा को तृप्त करने में समर्थ नहीं है। ऐसा जान कर तप रूप मार्ग में घूमते हुए लोभव

छाया:—अधोव्रजति क्रोधेन, मानेनाधमा गतिः।
मायया सुगति प्रतिघातः, लोभाद् द्विधा भयम् ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! आत्मा (कोहेणं) क्रोध से (अहे) अधोगति में (वयइ) जाता है (माणेणं) मान से उस को (अहमा) अधम (गई) गति मिलती है, (माया) कपट से (सुगइपडिग्घाओ) अच्छी गति का प्रतिघात होता है। (लोहाओ) लोभ से (दुहओ) दोनों भव संबंधी (भयं) भय प्राप्त होता है।

भावार्थः—हे आर्य ! जब आत्मा क्रोध करता है, तो उस क्रोध से उसे नरक आदि स्थानों की प्राप्ति होती है। मान करने से वह अधम गति को प्राप्त करता है। माया करने से पुरुषत्व या देवगति आदि अच्छी गति मिलने में रुकावट होती है और लोभ से जीव इस भव एवं पर-भव संबंधी भय को प्राप्त होता है।

मूलः—कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥९॥

छाया:—क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनयनाशनः।
माया मित्राणि नाशयति, लोभः सर्वविनाशनः ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (कोहो) क्रोध (पीइं) प्रीति को (पणासेइ) नाश करता है (माणो) मान (विणय) विनय को (नासणो) नाश करने वाला है। (माया) कपट (मित्ताणि) मित्रता को (नासेइ) नष्ट करता है। और (लोभो) लोभ (सव्व) सारे सद्गुणों का (विणासणो) विनाशक है।

भावार्थः—हे गौतम ! क्रोध ऐसा बुरा है कि वह परस्पर की प्रीति को क्षणभर में नष्ट कर देता है। मान विनम्र भाव को कभी अपनी ओर झांकने तक भी नहीं देता। कपट से मित्रता का भंग हो जाता है और लोभ सभी गुणों का नाश कर देता है। अतः क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों ही दुर्गुणों से अपनी आत्मा को सदा सर्वदा बचाते रहना चाहिए।

मूलः—उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं मज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥१०॥

छाया:—उपशमेन हन्यात् क्रोधं, मानं मार्दवेन जयेत् ।
माया मार्जवभावेन, लोभं सन्तोषतो जयेत् ॥१०॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (उवसमेण) उपशान्त "क्षमा" से (कोहं) क्रोध का (हणे) नाश करे (महवया) नम्रता से (माणं) मान को (जिणे) जीते (मज्जव) सरल (भावेण) भावना से (माया) कपट को और (संतोसओ) संतोष से (लोभं) लोभ को (जिणे) पराजित करना चाहिए ।

भावार्थ:—हे आर्य ! इस क्रोध रूप चाण्डाल को क्षमा से दूर भगाओ और विनम्र भावों से इस मान का मद नाश करो । इसी प्रकार सरलता से कपट को और संतोष से लोभ को पराजित करो । तभी वह मोक्ष प्राप्त होगा जहाँ पर कि गये बाद, वापिस दुखों में आने का काम नहीं ।

मूल:—असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते,
कं नु विहिंसा अजया गहिंति ॥११॥

छाया:—असंस्कृतं जीवितं मा प्रमादीः,
जरोपनीतस्य खलु नास्ति त्राणम् ।
एवं विजानीहि जनाः प्रमत्ताः,
किं नु विहिंस्रा अयता गमिष्यन्ति ॥११॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (जीविय) यह जीवन (असंखयं) असंस्कृत है । अतः (मा पमायए) प्रमाद मत करो (हु) क्योंकि (जरोवणीयस्स) वृद्धावस्था वाले पुरुष को किसी की (ताणं) शरण (नत्थि) नहीं है (एवं) ऐसा तू (वियाणाहि) अच्छी तरह से जान ले (पमत्ते) जो प्रमादी (विहिंसा) हिंसा करने वाले (अजया) अजितेन्द्रिय (जणे) मनुष्य हैं, वे (नु) बेचारे (कं) किसकी शरण (गहिंति) ग्रहण करेंगे ।

भावार्थः—हे गौतम ! इस मानव जीवन के टूट जाने पर न तो पुनः इसकी संधि हो सकती है, और न यह बढ़ ही सकता है। अतः धर्माचरण करने में प्रमाद मत करो। यदि कोई वृद्धावस्था में किसी की शरण प्राप्त करना चाहे तो इसमें भी वह असफल होता है। भला फिर जो प्रमादी और हिंसा करने वाले अजितेन्द्रिय मनुष्य हैं, वे परलोक में किसकी शरण ग्रहण करेंगे ? अर्थात्—वहाँ के होने वाले दुखों से उन्हें कौन छुड़ा सकेगा ? कोई भी बचाने वाला नहीं है।

मूलः—वित्तेण ताणं न लभे पमत्तो,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे,
नेयाउअं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥१२॥

छायाः—वित्तेन त्राणं न लभेत प्रमत्तः,
अस्मिल्लोकेऽथवा परत्र।
दीपंप्रणष्ट इवानन्तमोहः,
नैयायिकं दृष्ट्वाऽप्यदृष्ट्वेव ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (पमत्ते) वह प्रमादी मनुष्य (इमम्मि) इस (लोए) लोक में (अदुवा) अथवा (परत्था) परलोक में (वित्तेण) द्रव्य से (ताणं) त्राण, शरण (न) नहीं (लभे) पाता है (अणंतमोहे) वह अनंत मोहवाला (दीवप्पणट्ठे व) दीपक के नाश हो जाने पर (ने[1] याउअं) न्यायकारी मार्ग को (दट्ठुमदट्ठुमेव) देखने पर भी न देखने वाले के समान है।

(१) जैसे धातु ढूँढने वाले मनुष्य दीपक को लेकर पर्वत की गुफा की ओर गये और उस दीपक से गुफा देख भी ली, परन्तु उसमें प्रवेश होने पर उस दीपक की उन्होंने कोई पर्वाह न की। उनके आलस्य से दीपक बुझ गया, तब तो उन्होंने अँधेरे में इधर-उधर भटकते हुए प्राणान्त कष्ट पाया। इसी तरह प्रमादी जीव धर्म के द्वारा मुक्ति पथ को देख लेने पर भी उस धर्म की द्रव्य के लोभवश फिर उपेक्षा कर बैठते हैं। वहाँ वे जन्म-जन्मान्तरों में प्राणान्त जैसे कष्टों को अनेकों बार उठाते रहेंगे।

भावार्थः—हे गौतम ! धर्म-साधन करने में आलस्य करने वाले प्रमादी मनुष्यों की इस लोक और परलोक में द्रव्य के द्वारा रक्षा नहीं हो सकती है। प्रत्युत वे अनन्तमोही पुरुष, दीपक के नाश हो जाने पर न्यायकारी मार्ग को देखते हुए भी नहीं देखने वाले के समान हैं।

मूलः—सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पंडिए आसुपण्णे।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खीव चरऽप्पमत्तो ॥१३॥

छायाः—सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी,
न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञः।
घोरा मुहूर्त्ता अबलं शरीरं,
भारण्डपक्षीव चराऽप्रमत्तः ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (आसुपण्णे) तीक्ष्ण बुद्धि वाला (पडिबुद्धजीवी) द्रव्य निद्रा रहित तत्त्वों का जानकार (पंडिए) पण्डित पुरुष (सुत्तेसुयावी) द्रव्य और भाव से जो सोते हुए प्रमादी मनुष्य हैं, उनका (न) नहीं (विससे) विश्वास करे, अनुकरण करे, क्योंकि (मुहुत्ता) समय आयु क्षीण करने में (घोरा) भयंकर है। और (सरीरं) शरीर भी (अबलं) बल रहित है। अतः (भारंड-पक्खीव) भारंड पक्षी की तरह (अप्पमत्तो) प्रमादरहित (चर) संयम में विचरण कर।

भावार्थः—हे गौतम ! द्रव्य निद्रा से जाग्रत तीक्ष्णबुद्धि वाले पण्डित पुरुष जो होते हैं, वे द्रव्य और भाव से नींद लेने वाले प्रमादी पुरुषों के आचरणों का अनुकरण नहीं करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि समय जो है वह मनुष्य का आयु कम करने में भयंकर है। और यह भी नहीं है कि यह शरीर मृत्यु का सामना कर सके। अतएव जिस प्रकार भारंड पक्षी अपना चुगा चुगने में प्रायः प्रमाद नहीं करता है उसी तरह तुम भी प्रमादरहित होकर संयमी जीवन बिताने में सफलता प्राप्त करो।

मूल:—जे गिद्धे कामभोएसु, एगे कूडाय गच्छइ ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥१४॥

छाया:– यो गृद्धाः कामभोगेषु, एकः कूटाय गच्छति ।
न मया दृष्टः परलोकः, चक्षुर्दृष्टेयं रतिः ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (एगे) कोई एक (कामभोएसु) काम-भोगों में (गिद्धे) आसक्त होता है, वह (कूडाय) हिंसा और मृषा भाषा को (गच्छइ) प्राप्त होता है, फिर उससे पूछने पर वह बोलता है कि (मे) मैंने (परेलोए) परलोक (न) नहीं (दिट्ठे) देखा है। (इमा) इस (रइ) पौद्गलिक सुख को (चक्खुदिट्ठा) प्रत्यक्ष आँखों से देख रहा हूँ।

भावार्थः– हे आर्य ! जो कामभोग में सदैव लीन रहता है वह हिंसा झूठ आदि से बचा हुआ नहीं रहता है। यदि उससे कहा जाय कि हिंसादि कर्म करोगे तो नरक में दुख उठाओगे और सत्कर्म करोगे तो स्वर्ग में दिव्य सुख भोगोगे। ऐसा कहने पर वह प्रमादी बोल उठता है कि मैंने कोई भी स्वर्ग नरक नहीं देखे हैं, कि जिनके लिए इन प्रत्यक्ष कामभोगों का आनंद छोड़ बैठूँ।

मूल:—हत्थागया इमे कामा, कालिआ जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥१५॥

छाया:—हस्तागता इमे कामाः, कालिका येऽनागताः ।
को जानाति परः लोकः, अस्ति वा नास्ति वा पुनः ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे धर्मतत्त्वज्ञ ! (इमे) ये (कामा) कामभोग (हत्थागया) हस्तगत हो रहे हैं, और इन्हें त्यागने पर (जे) जो (अणागया) आगामी भव में सुख होगा, यह तो (कालिआ) भविष्यत् की बात है (पुणो) तो फिर (को) कौन (जाणइ) जानता है (परेलोए) परलोक (अत्थि) है (वा) अथवा (नत्थि) नहीं है।

भावार्थः—अज्ञानी नास्तिक इस प्रकार कहते हैं कि हे धर्म के तत्त्व को जानने वालो ! ये कामभोग जो प्रत्यक्ष रूप में मुझे मिल रहे हैं और जिन्हें त्याग देने पर आगामी भव में इससे भी बढ़ कर तथा आत्मिक सुख प्राप्त होगा, ऐसा तुम कहते हो; परन्तु यह तो भविष्यत् की बात है और फिर कौन जानता है कि नरक, स्वर्ग और मोक्ष है या नहीं ?

मूलः—जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ ।
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जइ ॥१६॥

छायाः—जनेन सार्द्धं भविष्यामि, इति बालः प्रगल्भते ।
कामभोगानुरागेण, क्लेशं सः सम्प्रतिपद्यते ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जणेण सद्धिं) इतने मनुष्यों के साथ मेरा भी (होक्खामि) जो होना होगा, सो होगा, (इइ) इस प्रकार (बाले) वे अज्ञानी (पगब्भइ) बोलते हैं, पर वे आखिर (कामभोगाणुराएणं) कामभोगों के अनुराग के कारण (केसं) दुख ही को (संपडिवज्जइ) प्राप्त होते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! वे अज्ञानी जन इस प्रकार फिर बोलते हैं कि इतने दुष्कर्मी लोगों का परलोक में जो होगा, वह मेरा भी हो जायगा । इतने सब के सब लोग क्या मूर्ख हैं ? पर हे गौतम ! आखिर में वे कामभोगों के अनुरागी लोग इस लोक और परलोक में महान् दुखों को भोगते हैं ।

मूलः—तओ से दंडं समारभइ, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए व अणट्ठाए, भूयग्गामं विहिंसइ ॥१७॥

छायाः—ततो दण्डं समारभते, त्रसेषु स्थावरेषु च ।
अर्थाय चानर्थाय, भूतग्रामं विहिनस्ति ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! यों स्वर्ग नरक आदि की असम्भावना मान करके (तओ) उसके बाद (से) वह मनुष्य (तसेसु) त्रस (अ) और (थावरेसु) स्थावर जीवों के विषय में (अट्ठाए) प्रयोजन से (व) अथवा (अणट्ठाए) बिना प्रयोजन से (दंडं) मन, वचन, काया के दण्ड को (समारभइ) समारंभ करता है और (भूयग्गामं) प्राणियों के समूह का (विहिंसइ) वध करता है ।

भावार्थः—हे आर्य ! नास्तिक लोग प्रत्यक्ष भोगों को छोड़कर भविष्यत् की कौन आशा करे, इस प्रकार कह कर, अपने दिल को मजबूत बनाते हैं। फिर वे, हलने-चलते त्रस जीवों और स्थावर जीवों की प्रयोजन से अथवा बिना प्रयोजन से, हिंसा करने के लिए, मन, वचन, काया के योगों को प्रारम्भ कर असंख्य जीवों की हिंसा करते हैं।

मूलः—हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेअं ति मन्नई ॥१८॥

छायाः—हिंस्रो बालो मृषावादी, मायी च पिशुनः शठः।
भुञ्जानः सुरां मांसं, श्रेयो मे इदमिति मन्यते ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! स्वर्ग नरक को न मान कर वह (हिंसे) हिंसा करने वाला (बाले) अज्ञानी (मुसावाई) फिर झूठ बोलता है (माइल्ले) कपट करता है, (पिसुणे) निन्दा करता है (सढे) दूसरों को ठगने की करतूत करता रहता है। (सुरं) मदिरा (मंसं) मांस (भुंजमाणे) भोगता हुआ (सेयमेअं) श्रेष्ठ है (ति) ऐसा (मन्नई) मानता है।

भावार्थः—हे गौतम ! स्वर्ग नरक आदि की असम्भावना करके वह अज्ञानी जीव हिंसा करने के साथ ही साथ झूठ बोलता है, प्रत्येक बात में कपट करता है। दूसरों की निंदा करने में अपना जीवन अर्पण कर बैठता है। दूसरों को ठगने में अपनी सारी बुद्धि खर्च कर देता है। और मदिरा एवं मांस खाता हुआ भी अपना जीवन श्रेष्ठ मानता है।

मूलः—कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टियं ॥१९॥

छायाः—कायेन वचसा मत्तः वित्ते गृद्धश्च स्त्रीषु।
द्विधा मलं सञ्चिनोति, शिशुनाग इव मृत्तिकाम् ॥१९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! वे नास्तिक लोग (कायसा) काय से (वायसा) वचन से (मत्ते) गर्वान्वित होने वाला (वित्ते) धन में (य) और (इत्थिसु) स्त्रियों में (गिद्ध) आसक्त हो वह मनुष्य (दुहओ) राग द्वेष के द्वारा (मलं) कर्म मल को (संचिणइ) इकट्ठा करता है (व) जैसे (सिसुणागु) शिशुनाग "अलसिया" (मट्टियं) मिट्टी से लिपटा रहता है।

भावार्थः—हे आर्य ! मन, वचन और काया से गर्व करने वाले वे नास्तिक लोग धन और स्त्रियों में आसक्त होकर रागद्वेष से गाढ़ कर्मों का अपनी आत्मा पर लेप कर रहे हैं। पर उन कर्मों के उदय काल में, जैसे अलसिया मिट्टी से उत्पन्न हो कर, फिर मिट्टी ही से लिपटाता है, किन्तु सूर्य की आतापना से मिट्टी के सूखने पर वह अलसिया महान कष्ट उठाता है, उसी तरह वे नास्तिक लोग भी जन्म-जन्मान्तरों में महान कष्टों को उठावेंगे।

मूलः—तओ पुट्ठो आयंकेण; गिलाणो परितप्पइ।
पभीओ परलोगस्स; कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥२०॥

छायाः—ततः स्पृष्ट आतङ्केन, ग्लानः परितप्यते।
प्रभीतः परलोकात्, कर्मानुप्रेक्ष्यात्मनः ॥२०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! कर्म बांध लेने के (तओ) पश्चात् (आयंकेण) असाध्य रोगों से (पुट्ठो) घिरा हुआ वह नास्तिक (गिलाणो) ग्लानि पाता है और (परलोगस्स) परलोक के भय से (पभीओ) डरा हुआ (अप्पणो) अपने किये हुए (कम्माणुप्पेहि) कर्मों को देख कर (परितप्पइ) खेद पाता है।

भावार्थः—हे गौतम ! पहले तो ऐसे नास्तिक लोग विषयों के लोलुप हो कर कर्म बांध लेते हैं फिर जब उन कर्मों का उदय काल निकट आता है तो असाध्य रोगों से घिर जाते हैं। उस समय उन्हें बड़ी ग्लानि होती है। नरकादि के दुखों से वे बड़े घबराते है और अपने किये हुए बुरे कर्मों के फलों को देख कर अत्यन्त खेद पाते हैं।

मूलः—सुआ मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥२१॥

छाया:—श्रुतानि मया नरकस्थानानि, अशीलानां च या गतिः ।
बालानां क्रूरकर्मणां, प्रगाढा यत्र वेदना ॥२१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! वे बोलते हैं, कि (जत्थ) जहाँ पर उन (कूरकम्माणं) क्रूर कर्मों के करने वाले (बालाणं) अज्ञानियों को (पगाढा) प्रगाढ़ (वेयणा) वेदना होती है। मैंने (नरए) नरक में (ठाणा) कुम्भी, वैतरणी, आदि जो स्थान हैं, वे (सुआ) सुने हैं, (च) और (असीलाणं) दुराचारियों की (जा) जो (गई) नारकीय गति होती है उसे भी सुना है।

भावार्थः—हे आर्य ! नास्तिकजन नर्क और स्वर्ग किसी को भी न मान कर खूब पाप करते हैं। जब उन कर्मों का उदय काल निकट आता है तो उनको कुछ असारता मालूम होने लगती है। तब वे बोलते हैं कि सच है, हमने तत्त्वज्ञों द्वारा सुना है, कि नरक में पापियों के लिए कुम्भियाँ, वैतरणी नदी आदि स्थान हैं और उन दुष्कर्मियों की जो नारकीय गति होती है, वहाँ क्रूरकर्मी अज्ञानियों को प्रगाढ़ वेदना होती है।

मूलः—सव्वं विलविअं गीअं; सव्वं नट्टं विडंबिअं ।
सव्वे आभरणा भारा; सव्वे कामा दुहावहा ॥२२॥

छाया:—सर्वं विलपितं गीतं, सर्वं नृत्यं विडम्बितम् ।
सर्वाण्याभरणानि भाराः, सर्वे कामा दुःखावहाः ॥२२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (सव्वं) सारे (गीअं) गीत (विलविअं) विलाप के समान है। (सव्वं) सारे (नट्टं) नृत्य (विडंबिअं) विडम्बना रूप हैं। (सव्वे) सारे (आहरणा) आभरण (भारा) भार के समान हैं। और (सव्वे) सम्पूर्ण (कामा) काम भोग (दुहावहा) दुख प्राप्त कराने वाले हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! सारे गीत विलाप के समान हैं। सारे नृत्य विडम्बना के समान हैं। सारे रत्न जड़ित आभरण भार रूप हैं। और सम्पूर्ण काम भोग जन्म-जन्मांतरों में दुख देने वाले हैं।

मूल:—जहेह सीहो व मिअं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिआ व भाया,
कालम्मि तम्मंसहरा भवन्ति ॥२३॥

छाया—यथेह सिंह इव मृगं गृहीत्वा,
मृत्युर्नरं नयति ह्यन्तकाले ।
न तस्य माता वा पिता वा भ्राता,
काले तस्यांशधरा भवन्ति ॥२३॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (इह) इस संसार में (जहा) जैसे (सीहो) सिंह (मिअं) मृग को (गहाय) पकड़ कर उसका अन्त कर डालता है (व) वैसे ही (मच्चू) मृत्यु (हु) निश्चय करके (अन्तकाले) आयुष्य पूर्ण होने पर (नरं) मनुष्य को (नेइ) परलोक में ले जाकर पटक देती है। (कालम्मि) उस काल में (माया) माता (वा) अथवा (पिआ) पिता (व) अथवा (भाया) भ्राता (तम्मंसहरा) उसके दुःख को अंश मात्र भी बँटाने वाले (न) नहीं (भवंति) होते हैं।

भावार्थ:—हे आर्य ! जिस प्रकार सिंह भागते हुए मृग को पकड़ कर उसे मार डालता है। इसी तरह मृत्यु भी मनुष्य का अन्त कर डालती है। उस समय उसके माता-पिता-भाई आदि कोई भी उसके दुःख का बंटवारा करके भागीदार नहीं बनते। अपनी निजी आयु में से आयु का कुछ भाग दे कर मृत्यु से उसे बचा नहीं सकते हैं।

मूल:—इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कहं पमाए ॥२४॥

छाया:—इदं च मेऽस्ति, इदम् च नास्ति, इदं च कृत्यमिदमकृत्यम् ।
तमेवमेवं लालप्यमानं, हरा हरन्तीति कथं प्रमादः ।।२४।।

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (इमं) यह (मे) मेरा (अत्थि) है, (च) और (इमं) यह धन (मे) मेरा (नत्थि) नहीं है, यह (किच्चं) करने योग्य है (च) और (इमं) यह व्यापार (अकिच्चं) नहीं करने योग्य है, (एवमेवं) इस प्रकार (लालप्पमाणं) बोलने वाले प्रमादियों के (तं) आयु को (हरा) रात-दिन रूप चोर (हरंति) हरण कर रहे हैं (त्ति) इसलिए (कहं) कैसे (पमाए) प्रमाद कर रहे हो ?

भावार्थः—हे गौतम ! यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, यह काम करने का है और यह बिना लाभ का व्यापार आदि मेरे नहीं करने का है। इस प्रकार बोलने वालों का आयु तो रात-दिन रूप चोर हरण करते जा रहे हैं। फिर प्रमाद क्यों करते हो ? अर्थात् एक ओर मेरे-तेरे की कल्पना और करने न करने के संकल्प चालू बने रहते हैं और दूसरी ओर काल रूपी चोर जीवन को हरण कर रहा है अतः शीघ्र ही सावधान होकर परमार्थ-साधन में लग जाना चाहिए।

।। इति त्रयोदशोऽध्यायः ।।

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय चौदहवां)

वैराग्य सम्बोधन

॥ भगवान् श्री ऋषभोवाच ॥

मूलः—संबुज्झह किं न बुज्झह,
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा,
णो हूवणमंति राइओ,
नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥१॥

छायाः—संबुध्यध्वं किं न बुध्यध्वं,
सम्बोधिः खलु प्रेत्य दुर्लभा।
नो खल्वुपनमन्ति रात्रयः,
नो सुलभं पुनरपि जीवितम् ॥१॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो ! (संबुज्झह) धर्म बोध करो (किं) सुविधा पाते हुए क्यों (न) नहीं (बुज्झह) बोध करते हो ? क्योंकि (पेच्च) परलोक में (खलु) निश्चय ही (संबोही) धर्म-प्राप्ति होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। (राइओ) गयी हुई रात्रियां (णो) नहीं (हु) निश्चय (उवणमंति) पीछी आती हैं। (पुणरावि) और फिर भी (जीवियं) मनुष्य जन्म मिलना (सुलभं) सुगम (न) नहीं है।

भावार्थः—हे पुत्रो ! सम्यक्स्वरूप धर्म बोध को प्राप्त करो ! सब तरह से सुविधा होते हुए भी धर्म को प्राप्त क्यों नहीं करते ? अगर मानव जन्म में

धर्म-बोध प्राप्त न किया, तो फिर धर्म-बोध प्राप्त होना महान् कठिन है। गया हुआ समय तुम्हारे लिए वापस लौट कर आने का नहीं, और न मानव जीवन ही सुलभता से मिल सकता है।

मूल:—डहरा वुड्ढाय पासह,
गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे,
एवमाउखयम्मि तुट्टई ॥२॥

छाया:—डिम्भावृद्धाः पश्यत, गर्भस्था अपि त्यजन्ति मानवाः।
श्येनो यथा वर्त्तकं हरेत्, एवमायुःक्षये त्रुट्यति ॥२॥

अन्वयार्थ:—हे पुत्रो! (पासह) देखो (डहरा) बालक तथा (वुड्ढा) वृद्ध (चयंति) शरीर त्याग देते हैं। और (गब्भत्था) गर्भस्थ (माणवा वि) मनुष्य भी शरीर त्याग देते हैं (जह) जैसे (सेणे) बाज पक्षी (वट्टयं) बटेर को (हरे) हरण कर ले जाता है (एवं) इसी तरह (आउखयम्मि) उम्र के बीत जाने पर (तुट्टई) मानव-जीवन टूट जाता है।

भावार्थ:—हे पुत्रो! देखो कितनेक तो बालवय में ही तथा कितनेक वृद्धावस्था में अपने मानव-शरीर को छोड़कर यहाँ से चल बसते हैं। और कितनेक गर्भवास में ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे, बाज पक्षी अचानक बटेर को आ दबोचता है, वैसे ही न मालूम किस समय आयु के क्षय हो जाने पर मृत्यु प्राणों को हरण कर लेगी। अर्थात् आयु के क्षय होने पर मानव-जीवन की शृंखला टूट जाती है।

मूल:—मायाहिं पियाहिं लुप्पइ,
नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।
एयाइं भयाइं पेहिया,
आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ॥३॥

छाया:—मातृभिः पितृभिर्लुप्यते, नो सुलभा सुगतिश्च प्रेत्य तु ।
एतानि भयानि प्रेक्ष्य, आरम्भाद्विरमेत्सुव्रतः ॥३॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो ! माता-पिता के मोह में फँसकर जो धर्म नहीं करता है, वह (माईहिं) माता (पिईहिं) पिता के द्वारा ही (लुप्पइ) परिभ्रमण करता है (य) और उसे (पेच्चओ) परलोक में (सुगई) सुगति मिलना (सुलहा) सुलभ (न) नहीं है। (एयाइं) इन (भयाइं) भयों को (पेहिया) देख कर (आरंभा) हिंसादि आरंभ से (विरमेज्ज) निवृत्त हो, वही (सुव्वए) सुव्रत-वाला है।

भावार्थः—हे पुत्रो ! माता-पितादि कौटुम्बिक जनों के मोह में फँसकर जिसने धर्म नहीं किया, वह उन्हीं के कारण संसार के चक्र में अनेक प्रकार के कष्टों को उठाता हुआ भ्रमण करता रहता है, और जन्म-जन्मान्तरों में भी उसे सुगति का मिलना सुलभ नहीं है। अतः इस प्रकार संसार में भ्रमण करने से होने वाले अनेकों कष्टों को देखकर जो हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि कामों से विरक्त रहे वही मानव-जीवन को सफल करने वाला सुव्रती पुरुष है।

मूलः—जमिणं जगती पुढो जगा,
कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो ।
सयमेव कडेहिं गाहइ,
णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥४॥

छाया:—यदिदं जगति पृथक् जगत्, कर्मभिर्लुप्यन्ते प्राणिनः ।
स्वयमेव कृतैर्गाहते नो, तस्य मुच्येत् अस्पृष्टः ॥४॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो ! (जमिणं) जो हिंसा से निवृत्त नहीं होते हैं उनको यह होता है, कि (जगती) संसार में (पाणिणो) के प्राणी (पुढो) पृथक्-पृथक् (जगा) पृथ्वी आदि स्थानों में (कम्मेहिं) कर्मों से (लुप्पंति) भ्रमण करते हैं। क्योंकि (सयमेव) अपने (कडेहिं) किये हुए कर्मों के द्वारा (गाहइ) नरकादि

स्थानों को प्राप्त करते हैं। (तस्स) उन्हें (फुट्ठयं) कर्म स्पर्श अर्थात् भोगे बिना (णो) नहीं (मुच्चेज्ज) छोड़ते हैं।

भावार्थः—हे पुत्रो ! जो हिंसादि से मुँह नहीं मोड़ते हैं, वे इस संसार में पृथ्वी, पानी, नरक और तिर्यञ्च आदि अनेकों स्थानों और योनियों में कष्टों के साथ घूमते रहते हैं। क्योंकि उन्होंने स्वयमेव ही ऐसे कार्य किये हैं, कि जिन कर्मों के भोगे बिना उनका छुटकारा कभी हो ही नहीं सकता है।

मूलः—विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकायरियाइपीसणा।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाभिनिव्वुडा॥५॥

छायाः—विरता वीराः समुत्थिताः, क्रोधकातरिकादिपीषणाः।
प्राणान्न घ्नन्ति सर्वशः, पापाद्विरता अभिनिर्वृताः॥५॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो ! (विरया) जो पौद्गलिक सुखों से विरक्त है और (समुट्ठिया) सदाचार के सेवन करने में सावधान है, (कोहकायरियाइ) क्रोध, माया और उपलक्षण से मान एवं लोभ को (पीसणा) नाश करने वाला है, (सव्वसो) मन, वचन, काया, से जो (पाणे) प्राणों को (ण) नहीं (हणंति) हनता है (पावाओ) हिंसाकारी अनुष्ठानों से जो (विरयाभिनिव्वुडा) विरक्त है और क्रोधादि से उपशान्त है चित्त जिसका, उसको (वीरा) वीर पुरुष कहते हैं।

भावार्थः—हे पुत्रो ! मारकाट या युद्ध करके कोई वीर कहलाना चाहे तो वास्तव में वह वीर नहीं है। वीर तो वह है जो पौद्गलिक सुखों से अपना मन मोड़ लेता है, सदाचार का पालन करने में सदैव सावधानी रखता है, क्रोध, मान, माया और लोभ इन्हें अपना आन्तरिक शत्रु समझकर, इनके साथ युद्ध करता रहता है और उस युद्ध में उन्हें नष्ट कर विजय प्राप्त करता है, मन, वचन और काया से किसी तरह दूसरों के हक में बुरा न हो, ऐसा हमेशा ध्यान रखता रहता है, और हिंसादि आरम्भ से दूर रह कर जो उपशान्त चित्त से रहता है।

मूल:—जे पारिभवई परं जणं,
संसारे परिवत्तई महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया,
इति संखाय मुणी ण मज्जई ॥६॥

छाया:—यः परिभवति परं जनं,
संसारे परिवर्तते महत्।
अत इंखिनिका तु पापिका,
इति संख्याय मुनिर्न माद्यति ॥६॥

अन्वयार्थ:—हे पुत्रो! (जे) जो (परं) दूसरे (जणं) मनुष्य को (पारिभवई) अवज्ञा से देखता है, वह (संसारे) संसार में (महं) अत्यन्त (परिवत्तई) परिभ्रमण करता है (अदु) इसलिए (पाविया) पापिनी (इंखिणिया) निंदा को (इति) ऐसी (संखाय) जानकर (मुणी) साधु पुरुष (ण) नहीं (मज्जई) अभिमान करे।

भावार्थ:—हे पुत्रो! जो मनुष्य अपने से जाति, कुल, बल, रूप आदि में न्यून हो, उसकी अवज्ञा या निन्दा करने से, वह मनुष्य दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है। जिस वस्तु को पाकर निन्दा की थी, वह पापिनी निन्दा उससे भी अधिक हीनावस्था में पटकने वाली है। ऐसा जानकर साधु जन न तो कभी दूसरे की निन्दा ही करते हैं, और न, पायी हुई वस्तु ही का कभी गर्व करते हैं।

मूल:—जे इह सायाणुगनरा,
अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया,
न विजाणंति समाहिमाहितं ॥७॥

छाया:—य इह सातानुगनरा, अध्युपपन्नाः कामैर्मूच्छिताः।
कृपणेन समं प्रगल्भिताः, न विजानन्ति समाधिमाख्यातम् ॥७॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो ! (इह) इस संसार में (जे) जो (नरा) मनुष्य (साया गुण) ऋद्धि, रस साता के (अज्झोववन्ना) साथ (कामेहि) काम भोगों से (मुच्छिया) मोहित हो रहे हैं, और (किवणेण समं) दीन सरीखे (पगब्भिया) बेटे हैं वे (आहितं) कहे हुए (समाहिं) समाधि मार्ग को (न) नहीं (वि जाणंति) जानते हैं ।

भावार्थः—हे पुत्रो ! इस संसार में अनेक प्रकार के वैभवों से युक्त जो मनुष्य हैं वे काम भोगों में आसक्त होकर कायर की तरह बोलते हुए, धर्माचरण में हठीलापन दिखाते हैं, उन्हें ऐसा समझो कि वे वीतराग के कहे हुए समाधि मार्ग को नहीं जानते हैं ।

मूलः—अदक्खुव दक्खुवाहियं, सद्दहसु अदक्खुदंसणा ।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥८॥

छायाः—अपश्य इव पश्यव्याख्यातं, श्रद्धस्व अपश्यक दर्शनाः ।
हंहो हि सुनिरुद्धदर्शनाः, मोहनीयेन कृतेन कर्मणा ॥८॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो ! (अदक्खुव) तुम अन्धे क्यों बने जा रहे हो ! (दक्खुवाहियं) जिसने देखा है उनके वाक्यों में (सद्दहसु) श्रद्धा रक्खो और (हंदि अदक्खुदंसणा) हे ज्ञान-शून्य मनुष्यो ! ग्रहण करो वीतराग के कहे हुए आगमों को । परलोकादि नहीं है, ऐसा कहने वालो के (मोहणिज्जेण) मोहवश (कडेण) अपने किये हुए (कम्मुणा) कर्मों द्वारा (दंसणे) सम्यक्ज्ञान (सुनिरुद्ध) अच्छी तरह ढका है ।

भावार्थः—हे पुत्रो ! कर्मों के शुभाशुभ फल होते हुए भी जो उसकी नास्तिकता बताता है, वह अन्धा ही है । ऐसे को कहना पड़ता है, कि जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में अपने केवलज्ञान के बल से स्वर्ग नरकादि देखे हैं, उनके वाक्यों को प्रमाण भूत, वह माने और उनके कहे हुए वाक्यों को, ग्रहण कर उनके अनुसार अपनी प्रकृति बनावे । हे ज्ञानशून्य मनुष्यो ! तुम कहते हो कि वर्तमान काल में जो होता है, वही है और सब ही नास्तिरूप हैं । ऐसा कहने से तुम्हारे पिता और पितामह की भी नास्तिता सिद्ध होगी । और जब इनकी ही नास्ति होगी, तो तुम्हारी उत्पत्ति कैसे हुई ? पिता के बिना पुत्र की कभी

उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। अतः भूतकाल में भी पिता था, ऐसा अवश्य मानना होगा। इसी तरह भूत और भविष्य काल में नरक स्वर्ग आदि के होने वाले सुख-दुख भी अवश्य हैं। कर्मों के शुभाशुभ फलस्वरूप नरक स्वर्गादि नहीं है, ऐसा जो कहता है, उसका सम्यक्ज्ञान मोहवश किये हुए कर्मों से ढँका हुआ है।

मूलः—गारं पि अ आवसे नरे,
अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते,
देवाणं गच्छे सलोगयं ॥९॥

छायाः—अगारमपि चावसन्नर, आनुपूर्व्या प्राणेषु संयतः।
समता सर्वत्र सुव्रतः, देवानां गच्छेत्सलोकताम् ॥९॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो! (गारं पि अ) घर में (आवसे) रहता हुआ (नरे) मनुष्य भी (अणुपुव्वं) जो धर्म श्रवणादि अनुक्रम से (पाणेहि) प्राणों को (संजए) यतना करता रहता है (सव्वत्थ) सब जगह (समता) समभाव है जिसके ऐसा (सुव्वते) सुव्रतवान् गृहस्थ भी (देवाणं) देवताओं के (सलोगयं) लोक को (गच्छे) जाता है।

भावार्थः—हे पुत्रो! जो गृहस्थावास में रह कर भी धर्म श्रवण करके अपनी शक्ति के अनुसार अपनों तथा परायों पर सब जगह समभाव रखता हुआ प्राणियों की हिंसा नहीं करता है वह गृहस्थ भी इस प्रकार का व्रत अच्छी तरह पालता हुआ स्वर्ग को जाता है। भविष्य में उसके लिए मोक्ष भी निकट ही है।

॥ श्रीसुधर्मोवाच॥

मूलः—अभविंसु पुरा वि भिक्खुवो,
आएसा वि भवंति सुव्वता।
एयाइं गुणाइं आहु ते,
कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥१०॥

छाया:—अभवन् पुराऽपि भिक्षवः, आगमिष्या अपि सुव्रताः।
एतान् गुणानाहुस्ते, काश्यपस्यानुधर्मचारिणः ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे (भिक्खुवो) भिक्षुओ! (पुरा) पहले (अभविंसु) हुए जो (वि) और (आएसा वि) भविष्यत् में होंगे, वे सब (सुव्वता) सुव्रती होने से जिन (भवंति) होते हैं। (ते) वे सब जिन (एयाइं) इन (गुणाइं) गुणों को एकसे (आहु) कहते हैं। क्योंकि, (कासवस्स) महावीर भगवान के (अणुधम्म-चारिणो) वे धर्मानुसारी हैं।

भावार्थः—हे भिक्षुओ! जो बीते हुए काल में तीर्थंकर हुए है, उनके और भविष्यत् में होंगे उन सभी तीर्थंकरों के कथनों में अन्तर नहीं होता है। सभी का मन्तव्य एक ही सा है। क्योंकि वे सुव्रती होने से राग द्वेष रहित जो जिन-पद है, उसको प्राप्त कर लेते हैं और सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते हैं। इसी से ऋषभ-देव और भगवान् महावीर आदि सभी "ज्ञान-दर्शन-चारित्र से मुक्ति होती है," ऐसा एक ही सा कथन करते हैं।

॥ श्रीऋषभोवाच ॥

मूलः—तिविहेण वि पाण मा हणे,
आयहिते अणियाण संवुडे।
एवं सिद्धा अणंतसो,
संपइ जे अणागयावरे ॥११॥

छाया:—त्रिविधेनापि प्राणान् मा हन्यात्,
आत्महितोऽनिदानः संवृतः।
एवं सिद्धा अनन्तशः,
संप्रति ये अनागत अपरे ॥११॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो! (जे) जो (आयहिते) आत्म-हित के लिए (तिविहेण वि) मन, वचन, कर्म से (पाण) प्राणों को (मा हणे) नहीं हनते (अणियाण) नियाण रहित (संवुडे) इन्द्रियों को गोपे (एवं) इस प्रकार का जीवन करने से

(अणंतसो) अनन्त (सिद्धा) मोक्ष गये हैं और (सम्पइ) वर्तमान में जा रहे हैं (अणागयावरे) और अनागत अर्थात् भविष्यत् में जावेंगे।

भावार्थः—हे पुत्रो ! जो आत्म-हित के लिए एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत प्राणी मात्र की मन, वचन, और कर्म से हिंसा नहीं करते हैं, और अपनी इन्द्रियों को विषय वासना की ओर घूमने नहीं देते हैं, बस, इसी व्रत के पालन करते रहने से भूत काल में अनन्त जीव मोक्ष पहुँचे हैं। और वर्तमान में जा रहे हैं। इसी तरह भविष्यत् काल में भी जावेंगे।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं,
दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए,
सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥१२॥

छायाः—संबुध्यध्वम् जन्तव ! मानुषत्वं,
दृष्ट्वा भयं बालिशेनालंभः।
एकान्त दुःखाज्ज्वरित इव लोकः,
स्वकर्मणा विपर्यासमुवैति ॥१२॥

अन्वयार्थः—(जंतवो) हे मनुजो ! तुम (माणुसत्तं) मनुष्यता को (संबुज्झहा) अच्छी तरह जानो। (भयं) नरकादि भय को (दट्ठुं) देख कर (बालिसेणं) मूर्खता के कारण विवेक को (अलंभो) जो प्राप्त नहीं करता वह (सकम्मुणा) अपने किये हुए कर्मों के द्वारा (जरिए) ज्वर से पीड़ित मनुष्यों की भाँति (एगंत दुक्खे) एकान्त दुख युक्त (लोए) लोक में (विप्परियासुवेइ) पुनः पुनः जन्म-मरण को प्राप्त होता है।

भावार्थः—हे मनुजो ! दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त करके फिर भी जो सम्यक्-ज्ञान आदि को प्राप्त नहीं करते हैं, और नरकादि के नाना प्रकार के दुख रूप भयों के होते हुए भी मूर्खता के कारण विवेक को प्राप्त नहीं करते है, वे अपने किये हुए कर्मों के द्वारा ज्वर से पीड़ित मनुष्यों की तरह एकान्त दुखकारी जो यह लोक है, इसमें पुनः-पुनः जन्म-मरण को प्राप्त करते हैं।

मूलः—जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१३॥

छायाः—यथा कूर्मः स्वाङ्गानि स्वदेहे समाहरेत् ।
एवं पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत् ॥१३॥

अन्वयार्थः हे आर्य ! (जहा) जैसे (कुम्मे) कछुआ (सअंगाइं) अपने अंगोपांगों को (सए) अपने (देहे) शरीर में (समाहरे) सिकोड़ लेता है (एवं) इसी तरह (मेधावी) पण्डित जन (पावाइं) पापों को (अज्झप्पेण) अध्यात्म ज्ञान से (समाहरे) संहार कर लेते हैं ।

भावार्थः—हे आर्य ! जैसे कछुआ अपना अहित होता हुआ देख कर अपने अंगोपांगों को अपने शरीर में सिकोड़ लेता है, इसी तरह पण्डित जन भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियों को आध्यात्मिक ज्ञान से संकुचित कर रखते हैं ।

मूलः—साहरे हत्थपाए य, मंणं पंचेन्दियाणि य ।
पावकं च परीणामं, भासा दोसं च तारिसं ॥१४॥

छायाः—संहरेत् हस्तपादौ वा, मनः पञ्चेन्द्रियाणि च ।
पापकं च परीणामं भाषादोषं च तादृशम् ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे आर्य ! (तारिसं) कछुवे की तरह ज्ञानी जन (हत्थपाए य) हाथ और पावों की व्यर्थ चलन क्रिया को (मणं) मन की चपलता को (य) और (पंचेन्दियाणि) विषय की ओर घूमती हुई पांचों ही इन्द्रियों को (च) और (पावकं) पाप के हेतु (परीणामं) आने वाले अभिप्राय को (च) और (भासादोसं) सावद्य भाषा बोलने को (साहरे) रोक रखते हैं ।

भावार्थः—हे आर्य ! जो ज्ञानी जन हैं, वे कछुए की तरह अपने हाथ-पावों को संकुचित रखते हैं । अर्थात् उनके द्वारा पाप कर्म नहीं करते हैं । और पापों की ओर घूमते हुए इस मन के वेग को रोकते हैं ! विषयों की ओर इन्द्रियों को झांकने तक नहीं देते हैं । और बुरे भावों को हृदय में नहीं आने देते । और जिस भाषा से दूसरों का बुरा होता हो, ऐसी भाषा भी कभी नहीं बोलते हैं ।

मूलः—एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥१५॥

छायाः—एतत् खलु ज्ञानिनः सारं, यन्न हिंस्यति कञ्चनम् ।
अहिंसा समयं चैव, एतावती विज्ञानिता ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे आर्य ! (खु) निश्चय करके (णाणिणो) ज्ञानियों का (एयं) यह (सारं) तत्त्व है, कि (जं) जो (कंचणं) किसी भी जीव को (न) नहीं (हिंसति) हिंसा करते (अहिंसा) अहिंसा (चेव) ही (समयं) शास्त्रीय तत्त्व है (एतावंतं) बस, इतना ही (वियाणिया) विज्ञान है । वह यथेष्ट ज्ञानीजन है ।

भावार्थः—हे आर्य ! ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उन ज्ञानियों का सार-भूत तत्त्व यही है कि वे किसी जीव की हिंसा नहीं करते । वे अहिंसा ही को शास्त्रीय प्रधान विषय समझते हैं । वास्तव में इतना जिसे सम्यक् ज्ञान है वही यथेष्ट ज्ञानीजन है । बहुत अधिक ज्ञान सम्पादन करके भी यदि हिंसा को न छोड़े, तो उनका विशेष ज्ञान भी अज्ञान रूप है ।

मूलः—संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं,
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥१६॥

छायाः—संबुद्धचमानस्तु नरो मतिमान्, पापादात्मानं निवर्त्तयेत् ।
हिंसाप्रसूतानि दुःखानि मत्वा, वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे आर्य ! (संबुज्झमाणे) तत्त्वों को जानने वाला (मतीमं) बुद्धिमान् (णरे) मनुष्य (हिंसप्पसूयाइं) हिंसा से उत्पन्न होने वाले (दुहाइं) दुखों को (वेराणुबंधीणि) कर्मबंधहेतु (महब्भयाणि) महाभयकारी (मत्ता) मान कर (पावाउ) पापसे (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (निवट्टएज्जा) निवृत्त करते रहते हैं ।

भावार्थः—हे आर्य ! बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो सम्यक्ज्ञान को प्राप्त करता हुआ, हिंसा से उत्पन्न होने वाले दुखों को कर्म बंध का हेतु और महाभय-कारी मान कर, पापों से अपनी आत्मा को दूर रखता है ।

मूलः—आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुन्नमणेलिसं ॥१७॥

छायाः—आत्मगुप्तः सदा दान्तः छिन्न शोकोऽनाश्रवः।
यो धर्म शुद्धमाख्याति, प्रतिपूर्णमनीदृशम् ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (आयगुत्ते) आत्मा को गोपता हो, (सया) हमेशा (दंते) इन्द्रियों का दमन करता हो (छिन्नसोए) संसार के स्रोतों को मूंदने वाला या इष्ट वियोग आदि के शोक से रहित और (अणासवे) नूतन कर्म बंधन रहित जो पुरुष हो, वह (पडिपुन्नं) परिपूर्ण (अणेलिसं) अनन्य (सुद्धं) शुद्ध (धम्मं) धर्म को (अक्खाति) कहता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो अपनी आत्मा का दमन करता है, इन्द्रियों के विषयों के साथ जो विजय को प्राप्त करता है, संसार में परिभ्रमण करने के हेतुओं को नष्ट कर डालता है, और नवीन कर्मों का बंध नहीं करता है, अथवा इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग आदि होने पर भी जो शोक नहीं करता-समभावी बना रहता है, वही ज्ञानी जन हितकारी धर्म मूलक तत्त्वों को कहता है।

मूलः—न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभमयावतीता,
संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥१८॥

छायाः—न कर्मणा कर्म क्षपयन्तिबालाः,
अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः।
मेधाविनो लोभमदव्यतीताः,
सन्तोषिणो नोपकुर्वन्ति पापम् ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (बाला) जो अज्ञानी जन हैं वे (कम्मुणा) हिंसादि कामों से (कम्म) कर्म को (न) नहीं (खवेंति) नष्ट करते हैं, किन्तु (धीरो) बुद्धिमान् मनुष्य (अकम्मुणा) अहिंसादिकों से (कम्म) कर्म (खवेंति)

नष्ट करते हैं, (मेधाविणो) बुद्धिमान् (लोभमया) लोभ तथा मद से (वतीता) रहित (संतोसिणो) संतोषी होते हैं, वे (पावं) पाप (नो पकरेंति) नहीं करते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! हिंसादि के द्वारा पूर्व-संचित कर्मों को हिंसादि ही से जो अज्ञानी जीव नष्ट करना चाहते हैं, यह उनकी भूल है। प्रत्युत कर्मनाश के बदले उनके गाढ़ कर्मों का बंध होता है। क्योंकि खून से भींगा हुआ कपड़ा खून ही के द्वारा कभी साफ नहीं होता है, बुद्धिमान् तो वही हैं, जो हिंसादि के द्वारा बँधे हुए कर्मों को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य आदि के द्वारा नष्ट करते हैं। और वे लोभ और मद से रहित हो कर संतोषी हो जाते हैं। वे फिर भविष्यत् में नवीन पाप कर्म नहीं करते हैं। यहां 'लोभ' शब्द राग का सूचक और 'मद' द्वेष का सूचक है। अतएव लोभ-मया शब्द का अर्थ राग-द्वेष समझना चाहिए।

मूल—डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते आत्तओ पासइ सव्वलोए।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं,
बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥१९॥

छायाः—डिंभश्च प्राणो वृद्धश्च प्राणः,
स आत्मवत् पश्यति सर्वलोकान्।
उत्प्रेक्षते लोकमिमं महान्तम्,
बुद्धोऽप्रमत्तेषु परिव्रजेत् ॥१९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (डहरे) छोटे (पाणे) प्राणी (य) और (वुड्ढे) बड़े (पाणे) प्राणी (ते) उन सभी को (सव्वलोए) सर्व लोक में (आत्तओ) आत्मवत् (पासइ) जो देखता है (इणं) इस (लोगं) लोक को (महंतं) बड़ा (उव्वेहती) देखता है (बुद्धे) वह तत्त्वज्ञ (अपमत्तेसु) आलस्य रहित संयम में (परिव्वएजा) गमन करता है।

भावार्थः—हे गौतम ! चींटियाँ, मकोड़े, कुंथुवे, आदि छोटे-छोटे प्राणी और गाय, भैंस, हाथी, बकरा आदि बड़े-बड़े प्राणी आदि सभी को अपने आत्मा के समान जो समझता है और महान् लोक को चराचर जीव के जन्म-मरण से अशाश्वत देख कर जो बुद्धिमान् मनुष्य संयम में रत रहता है वही मोक्ष में पहुँचने का अधिकारी है।

॥इति चतुर्दशोऽध्यायः॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय पन्द्रहवां)

मनोनिग्रह

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥१॥

छायाः— एकस्मिन् जिते जिताः पञ्च, पंचसु जितेषु जिता दश ।
दशधा तु जित्वा, सर्वशत्रून् जयाम्यहम् ॥१॥

अन्वयार्थः—हे मुनि ! (एगे) एक मन को (जिए) जीतने पर (पंच) पाँचों इन्द्रियाँ (जिया) जीत ली जाती हैं और (पंच) पाँच इन्द्रियाँ (जिए) जीतने पर (दस) एक मन पाँच इन्द्रियां और चार कषाय, यों दसों जिया) जीत लिये जाते हैं । (दसहा उ) दशों को (जिणित्ता) जीत कर (णं) वाक्यालंकार (सव्व-सत्तू) सभी शत्रुओं को (महं) मैं (जिणा) जीत लेता हूँ ।

भावार्थः—हे मुनि ! एक मन को जीत लेने पर पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करली जाती है । और पाँचों इन्द्रियों को जीत लेने पर एक मन पाँच इन्द्रियाँ और क्रोध, मान, माया, लोभ ये दशों ही जीत लिये जाते हैं । और, इन दशों को जीत लेने से, सभी शत्रुओं को जीता जा सकता है । इसीलिए सब मुनि और गृहस्थों के लिए एक बार मन को जीत लेना श्रेयस्कर है ।

मूलः—मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं ॥२॥

छाया:—मनः साहसिको भीमः दुष्टाश्वः परिधावति ।
तं सम्यक् तु निगृह्णामि, धर्मशिक्षायै कन्थकम् ॥२॥

अन्वयार्थः—हे मुनि (मणो) मन बड़ा (साहसिओ) साहसिक और (भीमो) भयंकर (दुट्ठस्सा) दुष्ट घोड़े की तरह इधर-उधर (परिधावई) दौड़ता है (तं) उसको (धम्मसिक्खाइ) धर्म रूप शिक्षा से (कंथगं) जातिवंत अश्व की तरह (सम्मं) सम्यक् प्रकार से (निगिण्हामि) ग्रहण करता हूँ ।

भावार्थः—हे मुनि ! यह मन अनर्थों के करने में बड़ा साहसिक और भयंकर है । जिस प्रकार दुष्ट घोड़ा इधर-उधर दौड़ता है, उसी तरह यह मन भी ज्ञान रूप लगाम के बिना इधर-उधर चक्कर मारता फिरता है । ऐसे इस मन को धर्म रूप शिक्षा से जातिवंत घोड़े की तरह मैंने निग्रह कर रक्खा है । इसी तरह सब मुनियों को चाहिए, कि वे ज्ञानरूप लगाम से इस मन को निग्रह करते रहें ।

मूलः—सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा य, मणगुत्ती चउव्विहा ॥३॥

छायाः—सत्या तथैव मृषा च, सत्यामृषा तथैव च ।
चतुर्थ्यसत्यामृषा तु, मनोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (मणगुत्ती) मन गुप्ति (चउव्विहा) चार प्रकार की है । (सच्चा) सत्य (तहेव) तथा (मोसा) मृषा (य) और (सच्चामोसा) सत्यमृषा (य) और (तहेव) वैसे ही (चउत्थी) चौथी (असच्चमोसा) असत्यमृषा है ।

भावार्थः—हे गौतम ! मन चारों ओर घूमता रहता है । (१) सत्य विषय में; (२) असत्य विषय में; (३) कुछ सत्य और कुछ असत्य विषय में; (४) सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं ऐसे असत्यमृषा विषय में प्रवृत्ति करता है । जब यह मन असत्य, कुछ सत्य और कुछ असत्य, इन दो विभागों में प्रवृत्ति करता है तो महान् अनर्थों को उपार्जन करता है । उन अनर्थों के भार से आत्मा अधोगति में जाती है । अतएव असत्य और मिश्र की ओर घूमते हुए इस मन को निग्रह करके रखना चाहिए ।

मूलः—संरंभसमारंभे, आरंभम्मिउ तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु, निअत्तिज्ज जयं जई ॥४॥

छायाः—संरंभे समारंभे आरम्भे च तथैव च ।
मनः प्रवर्त्तमानं तु, निवर्तयेद्यतं यतिः ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जयं) यत्नवान् (जई) यति (संरंभसमारंभे) किसी को मारने के सम्बन्ध में और पीड़ा देने के सम्बन्ध में (य) और (तहेव) वैसे ही (आरम्भम्मि) हिंसक परिणाम के विषय में (पवत्तमाणं तु) प्रवृत्त होते हुए (मणं) मन को (निअत्तिज्ज[1]) निवृत्त करना चाहिए ।

भावार्थः—हे गौतम ! यत्नवान् साधु हो, या गृहस्थ हो, चाहे जो हो, किन्तु मन के द्वारा कभी भी ऐसा विचार तक न करे, कि अमुक को मार डालूँ या उसे किसी तरह पीड़ित कर दूँ । तथा उसका सर्वस्व नष्ट कर डालूँ । क्योंकि मन के द्वारा ऐसा विचार मात्र कर लेने से वह आत्मा महापातकी बन जाता है । अतएव हिंसक अशुभ परिणामों की ओर जाते हुए इस मन को पीछा घुमाओ, और निग्रह करके रक्खो । इसी तरह कर्म बन्धने की ओर घूमते हुए, वचन और काया को भी निग्रह करके रक्खो ।

मूलः—वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥५॥

छायाः—वस्त्रगन्धमलङ्कारं, स्त्रियः शयनानि च ।
अच्छन्दा ये न भुञ्जन्ति, न ते त्यागिन इत्युच्यते ॥५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (वत्थगंधमलंकारं) वस्त्र, सुगंध, भूषण (इत्थीओ) स्त्रियों (य) और (सयणाणि) शय्या वगैरह को (अच्छंदा) पराधीन होने से (जे) जो (न) नहीं (भुंजंति) भोगते हैं (से) वे (चाइ) त्यागी (न) नहीं (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है ।

---

(१) निअत्तिज्ज ऐसा भी कहीं-कहीं आता है, ये दोनों शुद्ध है । क्योंकि क. ग. च. द. आदि वर्णों का लोप करने से "अ" अवशेष रह जाता है । उस जगह 'अवर्णो य श्रुतिः' इस सूत्र से "अ" की जगह "य" का आदेश होता है ऐसा अन्यत्र भी समझ लें ।

भावार्थः—हे आर्य ! सम्पूर्ण परित्याग अवस्था में, या गृहस्थ की सामायिक अथवा पौषध अवस्था में, अथवा त्याग होने पर कई प्रकार के बढ़िया वस्त्र, सुगंध, इत्र, आदि भूषण वगैरह एवं स्त्रियों और शय्या आदि के सेवन करने की जो मन द्वारा केवल इच्छा मात्र ही करता है, परन्तु उन वस्तुओं को पराधीन होने से भोग नहीं सकता है, उसे त्यागी नहीं कहते हैं, क्योंकि उसकी इच्छा नहीं मिटी, वह मानसिक त्यागी नहीं बना है।

मूलः—जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥६॥

छायाः—यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धानपि वि पृष्ठीकुरुते ।
स्वाधीनान् त्यजति भोगान्, स हि त्यागीत्युच्यते ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (कंते) सुन्दर (पिए) मन मोहक (लद्धे) पाये हुए (भोए) भोगों को (वि) भी (जे) जो (पिट्ठिकुव्वइ) पीठ दे देवें, यही नहीं, जो (भोए) भोग (साहीणे) स्वाधीन हैं उन्हें (चयई) छोड़ देता है। (हु) निश्चय (से) वह (चाइ) त्यागी है त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो गृहस्थाश्रम में रह रहा है, उसको सुन्दर और प्रिय भोग प्राप्त होने पर भी उन भोगों से उदासीन रहता है, अर्थात् अलिप्त रहता हुआ उन भोगों को पीठ दे देता है, यही नहीं, स्वाधीन होते हुए भी उन भोगों का परित्याग करता है। वही निश्चय रूप से सच्चा त्यागी है ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

मूलः—समाए पेहाए परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।
"न सा महं नो वि अहं पि तीसे,"
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥७॥

छायाः—समया प्रेक्षया परिव्रजतः, स्यान्मनो निःसरति बहिः ।
न सा मम नोऽप्यहं तस्याः, इत्येव तस्या विनयेत रागम् ॥७॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (समाए) समभाव से (पेहाए) देखता हुआ जो (परिव्वयंतो) सदाचार सेवन में रमण करता है। उस समय (सिया) कदाचित् (मणो) मन उसका (बहिद्धा) संयम जीवन से बाहर (निस्सरई) निकल जाय तो विचार करे, कि (सा) वह (महं) मेरी (न) नहीं है। और (अहं पि) मैं भी (तीसे) उस का (नो वि) नहीं हूँ। (इच्चेव) इस प्रकार विचार कर (ताओ) उस से (रागं) स्नेह भाव को (विणएज्ज) दूर करना चाहिए।

भावार्थ:—हे आर्य ! सभी जीवों पर समदृष्टि रख कर आत्मिक ज्ञानादि गुणों में रमण करते हुए भी प्रमादवश यह मन कभी-कभी संयमी जीवन से बाहर निकल जाता है; क्योंकि हे गौतम ! यह मन बड़ा चंचल है, वायु की गति से भी अधिक तीव्र गतिमान् है, अतः जब संसार के मन मोहक पदार्थों की ओर यह मन चला जाय, उस समय यों विचार करना चाहिए, कि मन की यह धृष्टता है, जो सांसारिक प्रपंच की ओर घूमता है। स्त्री, पुत्र, धन वगैरह सम्पत्ति मेरी नहीं है और मैं भी उनका नहीं हूँ। ऐसा विचार कर उस सम्पत्ति से स्नेह भाव को दूर करना चाहिए। जो इस प्रकार मन को निग्रह करता है, वही उत्तम मनुष्य है।

मूल:—पाणिवहमुसावायाअदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो होइ अणासवो ॥८॥

छाया:—प्राणिवधमृषावाद—अदत्तमैथुनपरिग्रहेभ्यो विरतः।
रात्रिभोजनविरतः, जीवो भवति अनाश्रवः ॥८॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (जीवो) जो जीव (पाणिवहमुसावाया) प्राणवध, मृषावाद (अदत्तमेहुणपरिग्गहा) चोरी, मैथुन और ममत्व से (विरओ) विरक्त रहता है। और (राइभोयण विरओ) रात्रि भोजन से भी विरक्त रहता है, वह (अणासवो) अनाश्रवी (होइ) होता है।

भावार्थ:—हे गौतम ! आत्मा ने चाहे जिस जाति व कुल में जन्म लिया हो, अगर वह हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, ममत्व और रात्रि भोजन से पृथक् रहती हो तो वही आत्मा अनाश्रव[1] होती है। अर्थात् उसके भावी नवीन

१ Free from the influx of karma.

पाप रुक जाते हैं। और जो पूर्व भवों के संचित कर्म हैं, वे यहाँ भोग करके नष्ट कर दिये जाते हैं।

मूलः—जहा महातलागस्स, संनिरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥९॥

छायाः—यथा महातडागस्य, सन्निरुद्धे जलागमे।
उत्सिचनेन तपनेन, क्रमेण शोषणा भवेत् ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (महातलागस्स) बड़े भारी एक तालाब के (जलागमे) जल के आने के मार्ग को (सन्निरुद्धे) रोक देने पर, फिर उसमें का रहा हुआ पानी (उस्सिचणाए) उलीचने से तथा (तवणाए) सूर्य के आतप से (कमेणं) क्रमशः (सोसणा) उसका शोषण (भवे) होता है।

भावार्थः—हे आर्य ! जिस प्रकार एक बड़े भारी तालाब का जल आने के मार्ग को रोक देने पर नवीन जल उस तालाब में नहीं आ सकता है। फिर उस तालाब में रहे हुए जल को किसी प्रकार उलीच कर बाहर निकाल देने से अथवा सूर्य के आतप से क्रमशः वह सरोवर सूख जाता है। अर्थात् फिर उस तालाब में पानी नहीं रह सकता है।

मूलः—एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥१०॥

छायाः—एवं तु संयतस्यापि, पापकर्मनिरास्रवे।
भवकोटिसञ्चितं कर्म, तपसा निर्जीर्यते ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार (पावकम्मनिरासवे) जिसके नवीन पाप कर्मों का आना रुक गया है, ऐसे (संजयस्सावि) संयमी जीवन बिताने वाले के (भवकोडिसंचियं) करोड़ों भवों के पूर्वोपार्जित (कम्मं) कर्म (तवसा) तप द्वारा (निज्जरिज्जइ) क्षय हो जाते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जैसे तालाब में नवीन आते हुए पानी को रोक कर पहले के पानी को उलीचने से तथा आतप से उसका शोषण हो जाता है। इसी तरह संयमी जीवन बिताने वाला यह जीव भी हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार,

और ममत्व द्वारा आते हुए पाप को रोक कर, जो करोड़ों भवों में पहले संचित किये हुए कर्म हैं उनको तपस्या द्वारा क्षय कर लेता है। तात्पर्य यह है कि आगामी कर्मों का संवर और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही कर्म क्षय-मोक्ष-का कारण है।

मूलः—सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भितरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भितरो तवो ॥११॥

छायाः—तत्तपो द्विविधमुक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
बाह्यं षड्विधमुक्तं, एवमाभ्यन्तरं तपः ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (सो) वह (तवो) तप (दुविहो) दो प्रकार का (वुत्तो) कहा गया है। (बाहिरब्भितरो तहा) बाह्य तथा आभ्यन्तर (बाहिरो) बाह्य तप (छव्विहो) छः प्रकार का (वुत्तो) कहा है। (एवं) इसी प्रकार (अब्भितरो) आभ्यन्तर (तवो) तप भी है।

भावार्थ—हे आर्य! जिस तप से, पूर्व संचित कर्म नष्ट किए जाते हैं, वह तप दो प्रकार का है। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य के छः प्रकार हैं। इसी तरह आभ्यन्तर के भी छः प्रकार हैं।

मूलः—अणसणमूणोयरिया,
भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीयणा,
य बज्झो तवो होई ॥२२॥

छायाः—अनशनमूनोदरिका, भिक्षाचर्या च रसपरित्यागः।
कायक्लेशः संलीनता च, बाह्यं तपो भवति ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! बाह्य तप के छः भेद यों हैं—(अणसणमूणोयरिया) अनशन, ऊनोदरिका (य) और (भिक्खायरिया) भिक्षाचर्या (रसपरिच्चाओ) रसपरित्याग (कायकिलेसो) काय क्लेश (य) और (संलीणया)

इन्द्रियों को वश में करना। यह छः प्रकार का (बज्झो) बाह्य (तवो) तप (होइ) है।

भावार्थ:—हे गौतम ! एक दिन, दो दिन यों छः छः महीने तक भोजन का परित्याग करना, या सर्वथा प्रकार से भोजन का परित्याग करके संथारा कर ले उसे अनशन[१] तप कहते हैं। भूख सहन कर कुछ कम खाना, उसको ऊनोदरी तप कहते हैं। अनैमित्तिक भोजी होकर नियमानुकूल मांग करके भोजन लाना वह भिक्षाचर्या नाम का तप है, घी, दूध, दही, तेल और मिष्टान्न आदि का परित्याग करना, वह रस परित्याग तप है। शीत व ताप आदि को सहन करना काय क्लेश नाम का तप है। और पाँचों इन्द्रियों को वश में करना एवं क्रोध, मान, माया, लोभ पर विजय प्राप्त करना, मन-वचन-काया के अशुभ योगों को रोकना यह छठा संलीनता तप है। इस तरह बाह्य तप के द्वारा आत्मा अपने पूर्व संचित कर्मों का क्षय कर सकती है।

मूल:—पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भितरो तवो ॥१३॥

छाया:—प्रायश्चित्तं विनयः, वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः।
ध्यानं च व्युत्सर्गः, एतदाभ्यन्तरं तपः ॥१३॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! आभ्यन्तर तप के छः भेद यों हैं। (पायच्छित्तं) प्रायश्चित्त (विणओ) विनय (वेयावच्चं) वैयावृत्य (तहेव) वैसे ही (सज्झाओ) स्वाध्याय (झाणो) ध्यान (च) और (विउस्सग्गो) व्युत्सर्ग (एसो) यह (अब्भितरो) आभ्यन्तर (तवो) तप है।

भावार्थ:—हे आर्य ! यदि भूल से कोई गलती हो गयी हो तो उसकी आलोचक के पास आलोचना करके शिक्षा ग्रहण करना, इसको प्रायश्चित्त तप कहते हैं। विनम्र भावों मय अपना रहन-सहन बना लेना, यह विनय तप कहलाता है। सेवाधर्म के महत्त्व को समझकर सेवाधर्म का सेवन करना वैयावृत्य नामक तप है, इसी तरह शास्त्रों का मननपूर्वक पठन-पाठन करना स्वाध्याय तप है। शास्त्रों में बताये हुए तत्त्वों का बारीक दृष्टि से मननपूर्वक

---

१ Giving up food and water for some time or permanently.

चिन्तवन करना ध्यान तप कहलाता है, और शरीर से सर्वथा ममत्व को परित्याग कर देना यह छठा व्युत्सर्ग तप है। यों ये छः प्रकार के आभ्यन्तर तप हैं। इन बारह प्रकार के तप में से, जितने भी बन सकें, उतने प्रकार के तप करके पूर्व संचित करोड़ों जन्मों के कर्मों को यह जीव सहज ही में नष्ट कर सकता है।

मूलः—रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोअलोले समुवेइ मच्चुं ॥१४॥

छायाः—रूपेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्
रागातुरः स यथा वा पतङ्गः,
आलोकलोलः समुपैति मृत्युम् ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जो) जो प्राणी (रूवेसु) रूप देखने में (गिद्धि) गृद्धि को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअं) असमय (तिव्वं) शीघ्र ही (विणासं) विनाश को (पावइ) पाता है (जह वा) जैसे (आलोअलोले) देखने में लोलुप (से) वह (पयंगे) पतंग (रागाउरे) रागातुर (मच्चुं) मृत्यु को (समुवेइ) प्राप्त होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जैसे देखने का लोलुपी पतंग जलते हुए दीपक की लौ पर गिर कर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है। वैसे ही जो आत्मा इन चक्षुओं के वशवर्ती हो विषय सेवन में अत्यन्त लोलुप हो जाती है, वह शीघ्र ही असमय में अपने प्राणों से हाथ धो बैठती है।

मूलः—सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिए व्व मुद्धे,
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥१५॥

छाया:—शब्देषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरो हरिणमृग इव मुग्धः,
शब्देऽतृप्तः समुपैति मृत्युम् ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (व्व) जैसे (रागाउरे) रागातुर (मुद्धे) मुग्ध (सद्दे) शब्द के विषय से (अतित्ते) अतृप्त (हरिणमिए) हरिण (मच्चुं) मृत्यु को (समुवेइ) प्राप्त होता है, वैसे ही (जो) जो आत्मा (सद्दे सु) शब्द विषयक (गिद्धिं) गृद्धि को (मुवेइ) प्राप्त होती है (से) वह (अकालिअं) असमय में (तिव्वं) शीघ्र ही (विणासं) विनाश को (पावइ) पाती है।

भावार्थः—हे आर्य ! राग भाव में लवलीन, हित-अहित का अनभिज्ञ, श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में अतृप्त ऐसा जो हिरण है वह केवल श्रोत्रेन्द्रिय के वशवर्ती होकर अपना प्राण खो बैठता है। उसी तरह जो आत्मा श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में लोलुप होती है, वह शीघ्र ही असमय में मृत्यु को प्राप्त हो जाती है।

मूलः—गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे,
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥१६॥

छाया:—गन्धेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुर औषधगंधगृद्धः,
सर्पो बिलान्निव निःक्रामन् ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (ओसहिगंध गिद्धे) नाग दमनी औषध की गंध में मग्न (रागाउरे) रागातुर (सप्पे) सर्प (बिलाओ) बिल से बाहर (नक्खमंते) निकलने पर नष्ट हो जाता है (विव) ऐसे ही (जो) जो जीव (गंधेसु) गंध में (गिद्धिं) गृद्धिपने को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअं) असमय ही में (तिव्वं) शीघ्र (विणासं) विनाश को (पावइ) प्राप्त होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जैसे नागदमनी गंध का लोलुप ऐसा जो रागातुर सर्प है, वह अपने बिल से बाहर निकलने पर मृत्यु को प्राप्त होता है। वैसे ही जो जीव गंध विषयक पदार्थों में लीन हो जाता है, वह शीघ्र ही असमय में अपनी आयु का अन्त कर बैठता है।

मूलः—रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए,
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥१७॥

छायाः—रसेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरो बडिशविभिन्नकायः,
मत्स्यो यथाऽऽमिषभोगगृद्धः ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (आमिस-भोगगिद्धे) मांस भक्षण के स्वाद में लोलुप ऐसा (रागाउरे) रागातुर (मच्छे) मच्छ (बडिसविभिन्नकाए) मांस या आटा लगा हुआ ऐसा जो तीक्ष्ण कांटा उससे विंधकर नष्ट हो जाता है। ऐसे ही (जो) जो जीव (रसेसु) रस में (गिद्धिं) गृद्धिपन को (उवेइ) प्राप्त होता है, (से) वह (अकालिअं) असमय में ही (तिव्वं) शीघ्र (विणासं) विनाश को (पावइ) प्राप्त होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार मांस भक्षण के स्वाद में लोलुप जो रागातुर मच्छ है वह मरणावस्था को प्राप्त होता है। ऐसे ही जो आत्मा इस रसेन्द्रिय के वशवर्ती होकर अत्यन्त गृद्धिपन को प्राप्त होती है वह असमय ही में द्रव्य और भाव प्राणों से रहित हो जाता है।

मूलः—फासस्स जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने,
गाहग्गहीए महिसे व रण्णे ॥१८॥

छाया:—स्पर्शेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां,
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरः शीतजलावसन्नः
ग्राहा गृहीतो महिष इवारण्ये ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (व) जैसे (रण्णे) अरण्य में (सीयजलावसन्ने) शीतजल में बैठे रहने का प्रलोभी ऐसा जो (रागाउरे) रागातुर (महिसे) भैंसा (गाहग्गहीए) मगर के द्वारा पकड़ लेने पर मारा जाता है, ऐसे ही (जो) मनुष्य (फासस्स) त्वचा विषयक विषय के (गिद्धि) गृद्धि पन को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअं) असमय ही में (तिव्वं) शीघ्र (विणासं) विनाश को (पावइ) पाता है ।

भावार्थः— जैसे बड़ी भारी नदी में त्वचेन्द्रिय के वशवर्ती हो कर और शीतल जल में बैठकर आनन्द मानने वाला वह रागातुर भैंसा मगर से जब घेरा जाता है, तो सदा के लिए अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है । ऐसे ही जो मनुष्य अपनी त्वचेन्द्रिय जन्य विषय में लोलुप होता है, वह शीघ्र ही असमय में नाश को प्राप्त हो जाता है ।

हे गौतम ! जब इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय के वशवर्ती होकर भी ये प्राणी अपना प्राणान्त कर बैठते हैं, तो भला उनकी क्या गति होगी जो पाँचों इन्द्रियों को पाकर उनके विषय में लोलुप हो रहे हैं ! अतः पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ही मनुष्य मात्र का परम कर्त्तव्य और श्रेष्ठ धर्म है ।

॥ इति पंचदशोऽध्यायः ॥

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय सोलहवाँ)

आवश्यक कृत्य

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः—समरेसु अगारेसु, संधीसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धिं, णेव चिट्ठे ण संलवे ॥१॥

छायाः—समरेषु अगारेषु, सन्धिषु च महापथे ।
एक एकस्त्रिया सार्धं, नैव तिष्ठेन्न संलपेत् ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (समरेसु) लुहार की शाला में (अगारेसु) घरों में (संधीसु) दो मकानों की बीच की संधि में (य) और (महापहे) मोटे पंथ में (एगो) अकेला (एगित्थिए) अकेली स्त्री के (सद्धिं) साथ (णेव) न तो (चिट्ठे) खड़ा ही रहे और (ण) न (संलवे) वार्तालाप करे ।

भावार्थः—हे गौतम ! लुहार की शून्य शाला में, या पड़े हुए खण्डहरों में, तथा दो मकानों के बीच में और जहाँ अनेकों मार्ग आकर मिलते हों वहाँ अकेला पुरुष अकेली औरत के साथ न कभी खड़ा ही रहे और न कभी कोई उससे वार्तालाप ही करे । वे सब स्थान उपलक्षण मात्र हैं तात्पर्य यह है कि कहीं भी पुरुष अकेली स्त्री से वार्तालाप न करे ।

मूलः—साणं सूइअं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥२॥

छाया:—श्वानं सूतिकां गां, दृप्तं गोणं हयं गजम् ।
संडिम्भं कलहं युद्धं, दूरतः परिवर्जयेत् ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (साणं) श्वान (सूइअं) प्रसूता (गाविं) गो (दित्तं) मतवाला (गोणं) बैल (हयं) घोड़ा (गयं) हाथी, इनको और (संडिब्भं) बालकों के क्रीड़ास्थल (कलहं) वाग्युद्ध की जगह (जुद्धं) शस्त्रयुद्ध की जगह आदि को (दूरओ) दूर ही से (परिवज्जए) छोड़ देना चाहिए ।

भावार्थः—हे आर्य ! जहाँ श्वान, प्रसूता गाय, मतवाला बैल, हाथी, घोड़े खड़े हों या परस्पर लड़ रहे हों वहाँ ज्ञानी जन को नहीं जाना चाहिए । इसी तरह जहाँ बालक खेल रहे हों या मनुष्यों में परस्पर वाक्युद्ध हो रहा हो, अथवा शस्त्र-युद्ध हो रहा हो, ऐसी जगह पर जाना बुद्धिमानों के लिए दूर से ही त्याज्य है ।

मूलः—एगया अचेलए होइ, सचेले आवि एगया ।
एअं धम्महियं णच्चा, णाणी णो परिदेवए ॥३॥

छाया:—एकदाऽचेलको भवति, सचेलको वाप्येकदा ।
एतं धर्मं हितं ज्ञात्वा, ज्ञानी नो परिदेवेत ॥३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एगया) कभी (अचेलए) वस्त्र रहित (होइ) हो (एगया) कभी (सचेलेआवि) वस्त्र सहित हो, उस समय समभाव रखना (एअं) यह (धम्महियं) धर्म हितकारी (णच्चा) जान कर (णाणी) ज्ञानी (ण) नहीं (परिदेवए) खेदित होता है ।

भावार्थः—हे गौतम ! कभी ओढ़ने को वस्त्र हो या न हो, उस अवस्था में समभाव से रहना, बस इसी धर्म को हितकारी जान कर योग्य वस्त्रों के होने पर अथवा वस्त्रों के होने पर अथवा वस्त्रों के बिलकुल अभाव में या फटे टूटे वस्त्रों के सद्भाव में ज्ञानी जन कभी खेद नहीं पाते ।

मूलः—अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं,
न तेसिं पडिसंजले ।
सरिसो होइ बालाणं,
तम्हा भिक्खू न संजले ॥४॥

छाया:—आक्रोशेत् परः भिक्षुं, न तस्मै प्रतिसंज्वलेत् ।
सदृशो भवति बालानां, तस्माद् भिक्षुर्न संज्वलेत् ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (परे) कोई दूसरा (भिक्खुं) भिक्षु का (अक्कोसेज्जा) तिरस्कार करे (तेसिं) उस पर वह (न) न (पडिसंजले) क्रोध करे, क्योंकि क्रोध करने से (बालाणं) मूर्ख के (सरिसो) सदृश (होइ) होता है (तम्हा) इसलिए (भिक्खू) भिक्षु (न) न (संजले) क्रोध करे ।

भावार्थः—हे आर्य ! भिक्षु या साधु या ज्ञानी वही है, जो दूसरों के द्वारा तिरस्कृत होने पर भी उन पर बदले में क्रोध नहीं करता । क्योंकि क्रोध करने से ज्ञानी जन भी मूर्ख के सदृश कहाता है । इसलिए बुद्धिमान् श्रेष्ठ मनुष्य को चाहिए कि वह क्रोध न करे ।

मूलः—समणं संजयं दंतं,
हणेज्जा को वि कत्थइ ।
नत्थि जीवस्स नासो त्ति,
एवं पेहिज्ज संजए ॥५॥

छाया:—श्रमणं संयतं दान्तं, हन्यात् कोऽपि कुत्रचित् ।
नास्ति जीवस्य नाश इति, एवं प्रेक्षेत संयतः ॥५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (को वि) कोई भी मनुष्य (कत्थइ) कहीं पर (संजयं) जीवों की रक्षा करने वाले (दंतं) इन्द्रियों को दमन करने वाले (समणं) तपस्वियों को (हणेज्जा) ताड़ना करे, उस समय (जीवस्स) जीव का (नासो) नाश (नत्थि) नहीं है (एवं) इस प्रकार (संजए) वह तपस्वी (पेहिज्ज) विचार करे ।

भावार्थः—हे गौतम ! सम्पूर्ण जीवों की रक्षा करने वाले तथा इन्द्रिय और मन को जीतने वाले, ऐसे तपस्वी ज्ञानी जनों को कोई मूर्ख मनुष्य कहीं पर ताड़ना आदि करे तो उस समय वे ज्ञानी यों विचार करें कि जीव का तो नाश होता ही नहीं है । फिर किसी के ताड़ने पर व्यर्थ ही क्रोध क्यों करना चाहिए ।

मूलः—बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे ।
पंडिआणं सकामं तु, उक्कोसेणं सइं भवे ॥६॥

छायाः—बालानामकामं तु, मरणमसकृद् भवेत् ।
पण्डितानां सकामं तु, उत्कर्षेण सकृद् भवेत् ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (बालाणं) अज्ञानियों का (अकामं) निष्काम (मरणं) मरण (तु) तो (असइं) बार बार (भवे) होता है। (तु) और (पंडिआणं) पण्डितों का (सकामं) इच्छा सहित (मरणं) मरण (उक्कोसेणं) उत्कृष्ट (सइं) एक बार (भवे) होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! दुष्कर्म करने वाले अज्ञानियों को तो बार-बार जन्मना और मरना पड़ता है। और जो ज्ञानी हैं वे अपना जीवन ज्ञान पूर्वक सदाचार मय बना कर मरते हैं वे एक ही बार में मुक्ति धाम को पहुँच जाते हैं। या सात-आठ भव से तो ज्यादा जन्म-मरण करते ही नहीं है।

मूलः—सत्थग्गहणं विसभक्खणं च, जलणं च जलपवेसो य ।
अणायारभंडसेवी, जम्मणमरणाणि बंधंति ॥७॥

छायाः—शस्त्रग्रहणं विषभक्षणं च, ज्वलनं च जलप्रवेशश्च ।
अनाचारभाण्डसेवी च, जन्ममरणानि बध्यते ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! जो आत्मघात के लिए (सत्थग्गहणं) शस्त्र ग्रहण करे (च) और (विसभक्खण) विष भक्षण करे (च) और (जलणं) अग्नि में प्रवेश करे, (जलपवेसो) जल में प्रवेश करे (य) और (अणायारभंडसेवी) नहीं सेवन करने योग्य सामग्री की इच्छा करे। ऐसा करने से (जम्मणमरणाणि) अनेक जन्म-मरण हो ऐसा कर्म (बंधंति) बांधता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जो आत्म-हत्या करने के लिए, तलवार, बरछी, कटारी, आदि शस्त्र का प्रयोग करे। या अफीम, संखिया, मोरा, वछनाग, हिरकणी आदि का उपयोग करे, अथवा अग्नि में पड़ कर, या अग्नि में प्रवेश कर या कुआ, बावड़ी, नदी, तालाब में गिर कर मरे तो उसका यह मरण

अज्ञानपूर्वक है। इस प्रकार मरने से अनेक जन्म और मरणों की वृद्धि के सिवाय और कुछ नहीं होता है। और जो मर्यादा के विरुद्ध अपने जीवन को कलुषित करने वाली सामग्री ही को प्राप्त करने के लिये रात-दिन जुटा रहता है, ऐसे पुरुष की आयुष्य पूर्ण होने पर भी उसका मरण आत्म-हत्या के समान ही है।

मूलः—अह पंचहिं ठाणेहिं, जहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥८॥

छायाः—अथ पञ्चभिः स्थानैः, यैः शिक्षा न लभ्यते।
स्तम्भात् क्रोधात् प्रमादेन, रोगेणालस्येन च ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (अह) उसके बाद (जेहिं) जिन (पंचहिं) पाँच (ठाणेहिं) कारणों से (सिक्खा) शिक्षा (न) नहीं (लब्भई) पाता है, वे यों हैं। (थंभा) मान से (कोहा) क्रोध से (पमाएणं) प्रमाद से (रोगेणालस्सएणय) रोग से और आलस से।

भावार्थः—हे आर्य! जिन पाँच कारणों से इस आत्मा को ज्ञान प्राप्त नहीं होता है, वे यों हैं :—क्रोध करने से, मान करने से, किये हुए कण्ठस्थ ज्ञान का स्मरण नहीं करके नवीन ज्ञान सीखते जाने से, रोगी अवस्था से और आलस्य से।

मूलः—अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ।
अहस्सिरे सया दंते, न य मम्ममुदाहरे ॥९॥
नासीले न विसीले अ, न सिआ अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ॥१०॥

छायाः—अथाष्टभिः स्थानैः, शिक्षाशील इत्युच्यते।
अहसनशीलः सदा दान्तः, न च मर्मोदाहरः ॥९॥
नाशीलो न विशीलः, न स्यादति लोलुपः।
अक्रोधनः सत्यरतः, शिक्षाशील इत्युच्यते ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (अह) अब (अट्ठहिं) आठ (ठाणेहिं) स्थान कारणों से (सिक्खासीले) शिक्षा प्राप्त करने वाला होता है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है। (अहस्सिरे) हँसोड़ न हो (सया) हमेशा (दंते) इन्द्रियों को दमन करने वाला हो, (य) और (मम्मं) मर्म भाषा (न) नहीं (उदाहरे) बोलता हो, (असीले) सर्वथा शील-रहित (न) नहीं हो, (अ) और (विसीले) शील दूषित करने वाला (न) न हो (अइलोलुए) अति लोलुपी (न) न (सिया) हो, (अक्कोहणे) क्रोध न करने वाला हो (सच्चरए) सत्य में रत रहता हो, वह (सिक्खासीले) ज्ञान प्राप्त करने वाला होता है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है।

भावार्थ:—हे गौतम ! अगर किसी को ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो तो, वह विशेष न हँसे, सदैव खेल नाटक वगैरह देखने आदि के विषयों से इन्द्रियों का दमन करता रहे, किसी की मार्मिक बात को प्रकट न करे, शीलवान् रहे, अपना आचार-विचार शुद्ध रक्खे, अति लोलुपता से सदा दूर रहे, क्रोध न करे, और सत्य का सदैव अनुयायी बना रहे, इस प्रकार रहने से ज्ञान की विशेष प्राप्ति होती है।

मूल:—जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे,
निमित्तकोऊहलसंपगाढे।
कुहेडविज्जासवदारजीवी,
न गच्छइ सरणं तम्मि काले ॥११॥

छाया:—यो लक्षणं स्वप्नं प्रयुञ्जानः, निमित्तकौतूहल संप्रगाढः।
कुहेटकविद्यास्रवद्वारजीवी, न गच्छति शरणं तस्मिन् काले ॥११॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो साधु हो कर (लक्खणं) स्त्री, पुरुष के हाथादि की रेखाओं के लक्षण और (सुविणं) स्वप्न का फलादेश बताने का (पउंजमाणे) प्रयोग करते हों एवं (निमित्तकोऊहलसंपगाढे) भावी फल बताने तथा कौतूहल करने में, या पुत्रोत्पत्ति के साधन बताने में आसक्त हो रहा हो, इसी तरह (कुहेडविज्जासवदारजीवी) मंत्र, तन्त्र, विद्या रूप आस्रव के द्वारा जीवन निर्वाह करता हो वह (तम्मि काले) कर्मोदय काल में (सरणं) दुख से बचने के लिए किसी की शरण (न) नहीं (गच्छई) पाता है।

भावार्थ:—हे गौतम ! जो सब प्रपंच छोड़ करके साधु तो हो गया है मगर फिर भी वह स्त्री पुरुषों के हाथ व पैरों की रेखाएँ एवं तिल, मस आदि के भले-बुरे फल बताता है, या स्वप्न के शुभाशुभ फलादेश को जो कहता है, एवं पुत्रोत्पत्ति आदि के साधन बताता है इसी तरह मन्त्र-तन्त्रादि विद्या रूप आश्रव के द्वारा जीवन का निर्वाह करता है तो उसके अन्त समय में, जब वे कर्म फलस्वरूप में आकर खड़े होंगे उस समय उसके कोई भी शरण नहीं होंगे, अर्थात् उस समय उसे दुःख से कोई भी नहीं बचा सकेगा।

मूल:—पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥१२॥

छाया:—पतन्ति नरके घोरे, ये नराः पापकारिणः।
दिव्यां च गतिं गच्छन्ति चरित्वा धर्ममार्यम् ॥१२॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (नरा) मनुष्य (पावकारिणो) पाप करने वाले हैं वे (घोरे) महा भयंकर (नरए) नरक में (पडंति) जा कर गिरते हैं। (च) और (आरियं) सदाचार रूप प्रधान (धम्मं) धर्म को जो (चरित्ता) अंगीकार करते हैं, वे मनुष्य (दिव्वं) श्रेष्ठ (गइं) गति को (गच्छंति) जाते हैं।

भावार्थ:—हे आर्य ! जो आत्माएँ मानव जन्म को पा करके हिंसा, झूठ, चोरी, आदि दुष्कृत्य करती हैं वे पापात्माएँ, महाभयंकर जहाँ दुःख हैं ऐसे नरक में जा गिरेंगी। और जिन आत्माओं ने अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य आदि धर्म को अपने जीवन में खूब संग्रह कर लिया है, वे आत्माएँ यहाँ से मरने के पीछे जहाँ स्वर्गीय सुख अधिकता से होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ स्वर्ग में जाती हैं।

मूल:—बहुआगमविण्णाणा,
समाहिउप्पायगा य गुणगाही।
एएण कारणेणं,
अरिहा आलोयणं सोउं ॥१३॥

छाया:—बह्वागमविज्ञानाः, समाध्युत्पादकाश्च गुणग्राहिणः।
एतेन कारणेन, अर्हा आलोचनां श्रोतुम् ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (बहुआगम विण्णाणा) बहुत शास्त्रों का जानने वाला हो (समाहिउप्पायगा) कहने वाले को समाधि उत्पन्न करने वाला हो (य) और (गुणगाही) गुणग्राही हो (एएणं) इन (कारणेणं) कारणों से (आलोयणं) आलोचना को (सोउं) सुनने के लिए (अरिहइ) योग्य है।

भावार्थः—हे आर्य ! आन्तरिक बात उसके सामने प्रकट की जाय जो कि बहुत शास्त्रों को जानता हो। जो प्रकाशक को सांत्वना देने वाला हो, गुणग्राही हो। उसी के सामने अपने हृदय की बात खुले दिल से करने में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि इन बातों से युक्त मनुष्य ही आलोचक के योग्य है।

मूलः—भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥१४॥

छायाः—भावना योगशुद्धात्मा, जले नौरिवाख्याता।
नौरिव तीर सम्पन्ना, सर्व दुःखात् त्रुट्यति ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (भावणा) शुद्ध भावना रूप (जोगसुद्धप्पा) योग से शुद्ध हो रही है आत्मा जिनकी ऐसे पुरुष (जले णावा व) नौका के समान जल के ऊपर ठहरे हुए हैं, ऐसा (आहिया) कहा गया है। (नावा) जैसे नौका अनुकूल वायु से (तीरसम्पन्ना) तीर पर पहुंच जाती है (व) वैसे ही, नौका रूप शुद्धात्मा के उपदेश से जीव (सव्वदुक्खा) सर्व दुखों से (तिउट्टइ) मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! शुद्धभावना रूप ध्यान से हो रही है आत्मा निर्मल जिनकी, ऐसी शुद्धात्माएं संसार रूप समुद्र में नौका के समान हैं। ऐसा ज्ञानियों ने कहा है। वे नौका के समान शुद्धात्माएं आप स्वयं तिर जाती है और उनके उपदेश से अन्य जीव भी चारित्रवान् होकर सर्व दुख रूप संसार समुद्र का अन्त करके उसके परले पार पहुंच जाते हैं।

मूलः—सवणे नाणे विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव वोदाणे, अकिरिया सिद्धी ॥१५॥

छाया:—श्रवणं ज्ञानं विज्ञानं प्रत्याख्यानं च संयमः।
अनास्रवं तपश्चैव, व्यवदानमक्रिया सिद्धिः ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! ज्ञानी जनों के संसर्ग से (सवणे) धर्म श्रवण होता है। धर्म श्रवण से (नाणे) ज्ञान होता है। ज्ञान से (विण्णाणे) विज्ञान होता है। विज्ञान से (पच्चक्खाणे) प्रत्याख्यान का बोध होता है। (य) और त्याग से (संजमे) संयमी जीवन होता है। संयमी जीवन से (अणाहए) अनास्रवी होता है (चेव) और अनास्रवी होने से (तवे) तपवान होता है। तपवान होने से (वोदाणे) पूर्व संचित कर्मों का नाश होता है और कर्मों के नाश होने से (अकिरिया) क्रियारहित होता है। और सावद्य क्रिया रहित होने से (सिद्धी) सिद्धि की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हे गौतम ! सम्यक् ज्ञानियों की संगति से धर्म का श्रवण होता है, धर्म के श्रवण से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से विशेष ज्ञान या विज्ञान होता है। विज्ञान से पापों के करने का प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान से संयमी जीवन की प्राप्ति होती है। संयमी जीवन से अनास्रव अर्थात् आते हुए नवीन कर्मों को रोक हो जाती है। फिर अनास्रव से जीव तपवान बनता है। तपवान होने से पूर्व संचित कर्मों का नाश हो जाता है। कर्मों के क्षय हो जाने से सावद्य क्रिया का आगमन भी बंद हो जाता है। जब क्रिया मात्र रुक गयी तो फिर बस, जीव की मुक्ति ही मुक्ति है। यों, सदाचारी पुरुषों की संगति करने से उत्तरोत्तर सद्गुण ही सद्गुण प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि उसकी मुक्ति हो जाती है।

मूल:—अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मन्नति।
अलं बालस्स संगेणं, वेरं वड्ढति अप्पणो ॥१६॥

छाया:—अपि स हास्यमासज्य, हन्ता नन्दीति मन्यते।
अलं बालस्य सङ्गेन, वैरं वर्धत आत्मनः ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अवि) और जो कुसंग करता है (से) वह (हासमासज्ज) हास्य आदि में आसक्त होकर (हंता) प्राणियों की हिंसा ही में (णंदीति) आनन्द है, ऐसा (मन्नति) मानता है। और उस (बालस्स) अज्ञानी की आत्मा का (वेरं) कर्मबंध (वड्ढति) बढ़ता है।

भावार्थः—हे गौतम ! सत्पुरुषों की संगति करने से इस जीव को गुणों की प्राप्ति होती है और जो हास्यादि में आसक्त होकर प्राणियों की हिंसा करके आनन्द मानते हैं। ऐसे अज्ञानियों की संगति कभी मत करो। क्योंकि ऐसे दुराचारियों के संसर्ग से शराब पीना, मांस खाना, हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार का सेवन करना आदि दुष्कर्म बढ़ जाते हैं। और उन दुष्कर्मों से आत्मा को महान् कष्ट होता है। अतः मोक्षाभिलाषियों को अज्ञानियों की संगति कभी भूल कर भी नहीं करनी चाहिए।

मूलः—आवस्सयं अवस्सं करणिज्जं,
ध्रुवनिग्गहो विसोही अ।
अज्झयणछक्कवग्गो,
नाओ आराहणा मग्गो ॥१७॥

छायाः—आवश्यकमवश्यं करणीयम्, ध्रुवनिग्रहः विशोधितम्।
अध्ययनषट्कवर्गः, ज्ञेय आराधना मार्गः ॥१७॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (ध्रुवनिग्गहो) सदैव इन्द्रियों को निग्रह करने वाला (विसोही अ) आत्मा को विशेष प्रकार से शोधित करने वाला (नाओ) न्याय के काँटे के समान (आराहणा) जिससे वीतराग के वचनों का पालन हो ऐसा (मग्गो) मोक्ष मार्ग रूप (अज्झयणछक्कवग्गो) छः वर्ग "अध्ययन" हैं, पढ़ने के जिसके ऐसा (आवस्सयं) आवश्यक-प्रतिक्रमण (अवस्सं) अवश्य (करणिज्जं) करने योग्य है।

भावार्थ—हे गौतम ! हमेशा इन्द्रियों के विषय को रोकने वाला, और अपवित्र आत्मा को भी निर्मल बनाने वाला, न्यायकारी, अपने जीवन को सार्थक करने वाला और मोक्ष मार्ग का प्रदर्शक रूप छः अध्ययन हैं पढ़ने के जिसमें; ऐसा आवश्यक सूत्र साधु-साध्वी तथा गृहस्थों को सदैव प्रातः काल और सायंकाल दोनों समय अवश्य करना चाहिये। जिसके करने से अपने नियमों के विरुद्ध दिन-रात भर में भूल से किये हुए कार्यों का प्रायश्चित्त हो जाता है। हे गौतम ! यह आवश्यक यों है।

मूलः—सावज्जजोगविरई,
उक्कित्तण गुणवओ च पडिवत्ती ।
खलिअस्स निंदणा,
वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव ॥१८॥

छायाः—सावद्ययोगविरतिः, उत्कीर्त्तनं गुणवतश्च प्रतिपत्तिः ।
स्खलितस्य निन्दना, व्रणचिकित्सा गुणधारणा चैव ॥१८॥

अन्वयार्थः— हे इन्द्रभूति ! (सावज्जजोगविरई) सावद्ययोग से निवृत्ति (उक्कित्तण) प्रभु की प्रार्थना (य) और (गुणवओ) गुणवान गुरुओं को (पडिवत्ति) विधिपूर्वक नमस्कार । (खलिअस्स) अपने दोषों का (निंदणा) निरीक्षण (वणतिगिच्छ) छिद्र के समान लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त ग्रहण करता हुआ निवृत्ति रूप औषधि का सेवन करना (चेव) और (गुणधारणा) अपनी शक्ति के अनुसार त्याग रूप गुणों को धारण करना ।

भावार्थः—हे गौतम ! जहाँ हरी वनस्पति, चींटियाँ, कुंथुए बहुत ही छोटे जीव वगैरह न हों ऐसे एकान्त स्थान पर कुछ भी पाप नहीं करना, ऐसा निश्चय करके, कुछ समय के लिए अपने चित्त को स्थिर कर लेना, यह आवश्यक का प्रथम अध्ययन हुआ । फिर प्रभु की प्रार्थना करना, यह द्वितीय अध्ययन है । उसके बाद गुणवान् गुरुओं को विधिपूर्वक हृदय से नमस्कार करना यह तीसरा अध्ययन है । किये हुए पापों की आलोचना करना चौथा अध्ययन और उसका प्रायश्चित्त ग्रहण करना पाँचवाँ अध्ययन और छठी बार यथाशक्ति त्याग की वृद्धि करे । इस तरह षडावश्यक हमेशा दोनों समय करता रहे । यह साधु और गृहस्थों का नियम है ।

मूलः—जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥१९॥

छायाः—यः समः सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ।
तस्य सामायिकं भवति, इति केवलिभाषितम् ॥१९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जो) जो मनुष्य (तसेसु) त्रस (य) और (थावरेसु) स्थावर (सव्वभूएसु) समस्त प्राणियों पर (समो) समभाव रखने वाला है। (तस्स) उसके (सामाइयं) सामायिक (होइ) होती है (इइ) ऐसा (केवली) वीतराग ने (भासियं) कहा है।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस मनुष्य का हरी वनस्पति आदि जीवों पर तथा हिलते-फिरते प्राणी मात्र के ऊपर समभाव है अर्थात् सूई चुभोने से अपने को कष्ट होता है ऐसे ही कष्ट दूसरों के लिए भी समझता है। बस, उसी को सामायिक होती है ऐसा वीतरागों ने प्रतिपादन किया है। इस तरह सामायिक करने वाला मोक्ष का पथिक बन जाता है।

मूलः—तिण्णिय सहस्सा सत्त सयाइं,
तेहुत्तरिं च ऊसासा।
एस मुहुत्तो दिट्ठो,
सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥२०॥

छायाः—त्रीणि सहस्राणि सप्तशतानि, त्रिसप्ततिश्च उच्छ्वासः।
एषो मुहूर्त्तो दृष्टः, सर्वैरनन्तज्ञानिभिः ॥२०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तिण्णियसहस्सा) तीन हजार (सत्तसयाइं) सातसौ (च) और (तेहुत्तरि) तिहत्तर (ऊसासा) उच्छ्वासों का (एस) यह (मुहुत्तो) मुहूर्त होता है। ऐसा (सव्वेहिं) सभी (अणंतनाणीहिं) अनन्त ज्ञानियों के द्वारा (दिट्ठो) देखा गया है।

भावार्थः—हे गौतम ! ३७७३ तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासों का समूह एक मुहूर्त होता है। ऐसा सभी अनन्तज्ञानियों ने कहा है।

॥ इति षोडशोऽध्यायः ॥

☆

ॐ

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय सत्रहवाँ)

नरक-स्वर्ग-निरूपण

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—नेरइया सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसू भवे ।
रयणाभासक्करामा, वालुयाभा य आहिआ ॥१॥
पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा ।
इइ नेरइआ एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥२॥

छायाः—नैरयिकाः सप्तविधाः पृथिवीषु सप्तसु भवेयुः ।
रत्नाभा शर्कराभा, वालुकाभा च आख्याता ॥१॥
पङ्काभा धूमाभा, तमः तमस्तमः तथा ।
इति नैरयिका एते, सप्तधा परिकीर्त्तिताः ॥२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (नेरइया) नरक (सत्तसू) सात अलग-अलग (पुढवीसु) पृथ्वी में (भवे) होने से (सत्तविहा) सात प्रकार का (आहिआ) कहा गया है । (रयणाभासक्करामा) रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा (य) और (वालुयाभा) बालुप्रभा (पंकाभा) पंकप्रभा (धूमाभा) धूमप्रभा (तमा) तमप्रभा (तहा) वैसे ही तथा (तमतमा) तमतमा प्रभा (इइ) इस प्रकार (एए) ये (नेरइया) नरक (सत्तहा) सात प्रकार के (परिकित्तिआ) कहे गये हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! एक से एक मिश्र होने से नरक को ज्ञानीजनों ने सात प्रकार का कहा है । वे इस प्रकार हैं—(१) वैडूर्य रत्न के समान है

प्रभा जिसकी उसको रत्नप्रभा नाम से पहला नरक कहा है। (२) इसी तरह पाषाण, धूल, कर्दम, धूम्र के समान है प्रभा जिसकी उसको यथाक्रम शर्करा प्रभा (३) बालुका प्रभा (४) पंक प्रभा और (५) धूम प्रभा कहते हैं। और जहाँ अन्धकार है उसको (६) तम प्रभा कहते हैं। और जहाँ विशेष अन्धकार है उसको (७) तमतमा प्रभा सातवाँ नरक कहते हैं।

मूल:—जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,
पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा।
ते घोररूवे तमिसंधयारे,
तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥३॥

छाया:—ये केचिद् बाला इह जीवितार्थिनः
पापानि कर्माणि कुर्वन्ति रुद्राः।
ते घोररूपे तमिस्रान्धकारे,
तीव्राभितापे नरके पतन्ति ॥३॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति! (इह) इस संसार में (ज) जो (केइ) कितनेक (जीवियट्ठी) पापमय जीवन के अर्थी (बाला) अज्ञानी लोग (रुद्दा) रौद्र (पावाइं) पाप (कम्माइं) कर्मों को (करंति) करते हैं। (ते) वे (घोररूवे) अत्यन्त भयानक और (तमिसंधयारे) अत्यन्त अन्धकार युक्त, एवं (तिव्वाभितावे) तीव्र है ताप जिसमें ऐसे (नरए) नरक में (पडंति) जा गिरते हैं।

भावार्थ:—हे गौतम! इस संसार में कितनेक ऐसे जीव हैं, कि वे अपने पापमय जीवन के लिए महान हिंसा आदि पाप कर्म करते हैं। इसीलिए वे महान् भयानक और अत्यन्त अन्धकार युक्त तीव्र सन्तोषदायक नरक में जा गिरते हैं और वर्षों तक अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करते रहते हैं।

मूल:—तिव्वं तसे पाणिणो थावरे या,
जे हिंसती आयसुहं पडुच्च।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि ॥४॥

छाया:—तीव्रं त्रसान् प्राणिनः स्थावरान् वा,
यो हिनस्ति आत्मसुखं प्रतीत्य ।
यो लूषको भवति अदत्तहारी,
न शिक्षते सेवनीयस्य किञ्चित् ॥४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (तसे) त्रस (या) और (थावरे) स्थावर (पाणिणो) प्राणियों की (तिव्वं) तीव्रता से (हिंसती) हिंसा करता है, और (आयसुहं) आत्म सुख के (पडुच्च) लिए (जे) जो मनुष्य (लूसए) प्राणियों का उपमर्दक (होइ) होता है । एवं (अदत्तहारी) नहीं दी हुई वस्तुओं का हरण करने वाला (किंचि) थोड़ा सा भी (सेयवियस्स) अंगीकार करने योग्य व्रत के पालन का (ण) नहीं (सिक्खती) अभ्यास करता है । वह नरक में जा कर दुख उठाता है ।

भावार्थः—हे गौतम ! जो मनुष्य, हलन-चलन करने वाले अर्थात् त्रस तथा स्थावर जीवों की निर्दयतापूर्वक हिंसा करता है । और जो शारीरिक पौद्गलिक सुखों के लिए जीवों का उपमर्दन करता है । एवं दूसरों की चीजें हरण करने ही में अपने जीवन की सफलता समझता है । और किसी भी व्रत को अंगीकार नहीं करता, वह यहाँ से मरकर नरक में जाता है । और स्व-कृत कर्मों के अनुसार वहाँ नाना भांति के दुख भोगता है ।

मूलः—छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं,
उट्ठे वि छिंदंति दुवेवि कण्णे ।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं,
तिक्खाहिसूलाभितावयंति ॥५॥

छाया:—छिन्दन्ति बालस्य क्षुरेण नासिकाम्,
ओष्ठावपि छिन्दन्ति द्वावपि कर्णौ ।
जिह्वां विनिष्कास्य वितस्तिमात्रं,
तीक्ष्णैः शूलादभितापयन्ति ॥५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! परमाधामी देव नरक में (बालस्स) अज्ञानी के (खुरेण) छुरी से (नक्कं) नाक को (छिदंति) छेदते हैं। (उट्ठे वि) ओठों को भी और (दुवे) दोनों (कन्ने) कानों को (वि) भी (छिदंति) छेदते हैं। तथा (विहत्थिमित्तं) बेंत के समान लम्बाई भर (जिब्भं) जिह्वा को (विणिकस्स) बाहर निकाल करके (तिक्खाहि) तीक्ष्ण (सूला) शूलों आदि से (अभितावयंति) छेदते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो अज्ञानी जीव, हिंसा, झूठ, चोरी और व्यभिचार आदि करके नरक में जा गिरते हैं। असुर कुमार परमाधामी उन पापियों के कान नाक और ओठों को छुरी से छेदते हैं। और उनके मुँह में से जिह्वा को बेंत जितनी लम्बाई भर बाहर खींच कर तीक्ष्ण शूली से छेदते हैं।

मूलः—ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व्व,
राइंदियं तत्थ थणंति बाला।
गलंति ते सोणिअपूयमंसं,
पज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥६॥

छायाः—ते तिप्यमाना तलसम्पुटइव,
रात्रिन्दिवा तत्र स्तनान्त बालाः।
गलन्ति ते शोणितपूतमांसं,
प्रद्योनिता क्षार प्रदिग्धांगाः ॥६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तत्थ) वहाँ नरक में (ते) वे (तिप्पमाणा) रुधिर झरते हुए (बाला) अज्ञानी (राइंदियं) रात दिन (तलसंपुडं) पवन से प्रेरित ताल वृक्षों के सूखे पत्तों के शब्द के (व्व) समान (थणंति) आक्रन्दन का शब्द करते हैं। (ते) वे नारकीय जीव (पज्जोइया) अग्नि से प्रज्वलित (खार-पइद्धियंगा) क्षार से जलाये हुए अंग जिससे (सोणिअपूयमंसं) रुधिर, रसी और मांस (गलंति) झरते रहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! नरक में गये हुए उन हिंसादि महान् आरम्भ के करने वाले नारकीय जीवों के नाक, कान आदि काट लेने से रुधिर बहता रहता

है और वे रात-दिन बड़े आक्रन्दन स्वर से रोते हैं। और उस छेदे हुए अंग को अग्नि से जलाते हैं। फिर उसके ऊपर लवणादिक क्षार को छिटकते हैं। जिससे और भी विशेष रुधिर पूय और मांस झरता रहता है।

मूलः—रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे,
भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता।
पयंति णं णेरइए फुरंते,
सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥७॥

छायाः—रुधिरे पुनो वर्चः समुच्छ्रिताङ्गान्,
भिन्नोत्तमाङ्गान् परिवर्त्तयन्तः।
पचन्ति नैरयिकान् स्फुरतः,
सजीवमत्स्यानिवायः कटाहे ॥७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (पुणो) फिर (वच्च) दुर्गन्ध मल से (समुस्सिअंगे) लिपटा हुआ है अंग जिनका और (भिन्नुत्तमंगे) सिर जिनका छेदा हुआ है ऐसे नारकीय जीवों का खून निकालते हैं और (रुहिरे) उसी खून के तपे हुए कड़ाहे में उन्हें डालकर (परिवत्तयंता) इधर-उधर हिलाते हुए परमाधामी (पयंति) पकाते हैं। तब (णेरइए) नारकीय जीव (अयोकवल्ले) लोहे के कड़ाहे में (सजीव मच्छेव) सजीव मच्छी की तरह (फुरंते) तड़फड़ाते हैं।

भावार्थः—हे गौतम! जिन आत्माओं ने शरीर को आराम पहुँचाने के लिए हर तरह से अनेकों प्रकार के जीवों की हिंसा की है, वे आत्माएँ नरक में जाकर जब उत्पन्न होती हैं, तब परमाधामी देव दुर्गन्ध युक्त वस्तुओं से लिपटे हुए उन नारकीय आत्माओं के सिर छेदन कर उन्हीं के शरीर से खून निकाल उन्हें तप्त कड़ाहे में डालते हैं और उन्हें खूब ही उबाल करके जलाते हैं। असुर कुमारों के ऐसा करने पर वे नारकीय आत्माएँ उस तपे हुए कड़ाहे में तप्त तवे पर डाली हुई सजीव मछली की तरह तड़फड़ाती हैं।

मूल:—नो चेव ते तत्थ मसीभवंति,
ण मिज्जती तिव्वाभिवेयणाए ।
तमाणुभागं अणुवेदयंता,
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥८॥

छाया:—नो चैव ते तत्र मषीभवन्ति, न म्रियन्ते तीव्राभीर्वेदनाभिः ।
तदनुभागमनुवेदयन्तः, दुःखयन्ति दुःखिन इह दुष्कृतेन ॥८॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (तत्थ) नरक में (ते) वे नारकीय जीव पकाने से (नो चेव) नहीं (मसी भवंति) भस्म होते हैं । और (तिव्वाभिवेयणाए) तीव्र वेदना से (न) नहीं (मिज्जति) मरते है । (दुक्खी) वे दुखी जीव (दुक्कडेणं) अपने किये हुए दुष्कर्मों के द्वारा (तमाणुभागं) उसके फल को (अणुवेदयंता) भोगते हुए (दुक्खंति) कष्ट उठाते हैं ।

भावार्थ:—हे गौतम ! नारकीय जीव उन परमाधामी देवों के द्वारा पकाये जाने पर न तो भस्मीभूत ही होते हैं और न उस महान् भयानक छेदन-भेदन तथा ताड़न आदि ही से मरते हैं । किन्तु अपने किये हुए दुष्कर्मों के फलों को भोगते हुए बड़े कष्ट से समय बिताते रहते हैं ।

मूल:—अच्छीनिमिलियमेत्तं,
नत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं ।
नरए नेरइयाणं,
अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥९॥

छाया:—अक्षिनिमीलितमात्रं, नास्ति सुखं दुःखमेवानुबद्धम् ।
नरके नैरयिकाणाम्, अहर्निशं पच्यमानानाम् ॥९॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (अहोनिसं) रात दिन (पच्चमाणाणं) पचते हुए (नेरइयाणं) नारकीय जीवों को (नरए) नरक में (अच्छी) आंख (निमि-

लियमेत्तं) टिमटिमावे इतने समय के लिये भी (सुहं) सुख (नत्थि) नहीं है। क्योंकि (दुक्खमेव) दुख ही (अणुबद्धं) अनुबद्ध हो रहा है।

भावार्थः—हे गौतम! सदैव कष्ट उठाते हुए नारकीय जीवों को एक पल भर भी सुख नहीं है। एक दुख के बाद दूसरा दुख उनके लिये तैयार रहता है।

मूलः—अइसीयं अइउण्हं,
अइतण्हा अइक्खुहा।
अईभयं च नरए नेरयाणं,
दुक्खसयाइं अविस्सामं ॥१०॥

छायाः—अतिशीतम् अत्युष्णं, अतितृषाऽति क्षुधा।
अतिभयं च नरके नैरयिकाणाम्, दुःखशतान्यविश्रामम् ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (नरए) नरक में (नेरयाणं) नारकीय जीवों को (अइसीयं) अति शीत (अइउण्हं) अति उष्ण (अइतण्हा) अति तृष्णा (अइक्खुहा) अति भूख (च) और (अईभयं) अति भय (दुक्खसयाइं) सैकड़ों दुख (अविस्सामं) विश्राम रहित भोगना पड़ता है।

भावार्थः—हे गौतम! नरक में रहे हुए जीवों को अत्यन्त ठण्ड उष्ण भूख तृष्णा और भय आदि सैकड़ों दुःख एक के बाद एक लगातार रूप से कृत-कर्मों के फल रूप में भोगने पड़ते हैं।

मूलः—जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए।
एगंतदुक्खं भवमज्जणित्ता,
वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥११॥

छायाः—यत्यादृशं पूर्वमंकार्षीत् कर्म,
तदेवागच्छति सम्पराये।
एकान्तदुःखं भव मर्जयित्वा,
वेदयन्ति दुःखिन स्तमनन्तदुःखम् ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जं) जो (कम्मं) कर्म (जारिसं) जैसे (पुव्वं) पूर्व भव में जीव ने (अकासि) किये हैं (तमेव) वैसे ही, उसके फल (संपराए) संसार में (आगच्छति) प्राप्त होते हैं। (एगंतदुक्खं) केवल दुःख है जिसमें ऐसे नारकीय (भवं) जन्म को (अज्जणित्ता) उपार्जन करके (दुक्खी) वे दुखी जीव (तं) उस (अणंतदुक्खं) अपार दुःख को (वेदंति) भोगते हैं।

भावार्थः— हे गौतम ! इस आत्मा ने जैसे पुण्य पाप किये है; उसी के अनुसार जन्म-जन्मान्तर रूप संसार में उसे सुख-दुख मिलते रहते हैं। यदि उसने विशेष पाप किये हैं तो जहाँ घोर कष्ट होते हैं ऐसे नारकीय जन्म उपार्जन करके वह उस नरक में जा पड़ती है और अनन्त दुखों को सहती रहती है।

मूलः—जे पावकम्मेहि धणं मणूसा,
समायरंती अमइं गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उविंति ॥१२॥

छायाः— ये पापकर्मभिर्धनं मनुष्याः,
समार्जयन्ति अमतिं गृहीत्वा।
प्रदाय ते पाशप्रवृत्ताः नराः,
वैरानुबद्धा नरकमुपयान्ति ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (मणूसा) मनुष्य (अमइं) कुमति को (गहाय) ग्रहण करके (पावकम्मेहि) पाप कर्म के द्वारा (धणं) धन को (समायरंती) उपार्जन करते हैं, (ते) वे (नरे) मनुष्य (पासपयट्टिए) कुटुम्बियों के मोह में फंसे हुए होते हैं, वे (पहाय) उन्हें छोड़ कर (वेराणुबद्धा) पाप के अनुबन्ध करने वाले (नरयं) नरक में जा कर (उविंति) उत्पन्न होते हैं।

भावार्थः— हे गौतम ! जो मनुष्य पाप बुद्धि से कुटुम्बियों के भरण-पोषण रूप मोह-पाश में फँसता हुआ, गरीब लोगों को ठग कर अन्याय से धन पैदा करता है, वह मनुष्य धन और कुटुम्ब को यहीं छोड़ कर और जो पाप किये हैं उनको अपना साथी बना कर नरक में उत्पन्न होता है।

मूलः—एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे,
न हिंसए किंचण सव्वलोए ।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ,
बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥१३॥

छायाः—एतान् श्रुत्वा नरकान् धीरः, न हिंस्यात् कञ्चन् सर्वलोके ।
एकान्त दृष्टिरपरिग्रहस्तु, बुध्वा लोकस्य वशं न गच्छेत् ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (एगंतदिट्ठी) केवल सम्यक्त्व की है दृष्टि जिनकी और (अपरिग्गहेउ) ममत्व भाव रहित ऐसे जो (धीरे) बुद्धिमान मनुष्य हैं वे (एयाणि) इन (णरगाणि) नरक के दुखों को (सोच्चा) सुन कर (सव्वलोए) सम्पूर्ण लोक में (किंचण) किसी भी प्रकार के जीवों की (न) नहीं (हिंसए) हिंसा करें (लोयस्स) कर्म रूप लोक को (बुज्झिज्ज) जान कर (वसं) उसकी आधीनता में (न) नहीं (गच्छे) जावे ।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है और ममत्व से विमुख हो रहा है ऐसा बुद्धिमान तो इस प्रकार के नारकीय दुखों को एक मात्र सुन कर किसी भी प्रकार की कोई हिंसा नहीं करेगा । यही नहीं, वह क्रोध, मान, माया, लोभ तथा अहंकार रूप लोक के स्वरूप को समझ कर और उसके आधीन हो कर कभी भी कर्मों के बन्धनों को प्राप्त न करेगा । वह स्वर्ग में जाकर देवता होगा । देवता चार प्रकार के हैं । वे यों हैं—

मूलः—देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमेज्ज वाणमन्तर, जोइस वेमाणिया तहा ॥१४॥

छायाः—देवाश्चतुर्विधा उक्ताः, तान्मे कीर्तयतः, शृणु ।
भौमेया व्यन्तराः, ज्योतिष्का वैमानिकास्तथा ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (देवा) देवता (चउव्विहा) चार प्रकार के (वुत्ता) कहे हैं । (ते) वे (मे) मेरे द्वारा (कित्तयओ) कहे हुए तू (सुण) श्रवण कर (भोमेज्ज वाणमंतर) भवनपति, वाणव्यन्तर (तहा) तथा (जोइस वेमाणिया) ज्योतिषी और वैमानिक देव ।

भावार्थः—हे गौतम ! देव चार प्रकार के होते हैं। उन्हें तू सुन। (१) भवनपति (२) वाणव्यन्तर (३) ज्योतिषी और (४) वैमानिक। भवनपति इस पृथ्वी से १०० योजन नीचे की ओर रहते हैं। वाणव्यन्तर १० योजन नीचे रहते हैं। ज्योतिषी देव ७९० योजन इस पृथ्वी से ऊपर की ओर रहते हैं। परन्तु वैमानिक देव तो इन ज्योतिषी देवों से भी असंख्य योजन ऊपर रहते हैं।

मूलः—दसहा उ भवणवासी,
अट्ठहा वणचारिणो।
पंचविहा जोइसिया;
दुविहा वेमाणिया तहा ॥१५॥

छायाः—दशधा तु भवनवासिना, अष्टधा वनचारिणः।
पञ्चविधा ज्योतिष्काः, द्विविधा वैमानिकास्तथा ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (भवणवासी) भवनपति देव (दसहा) दस प्रकार के होते है। और (वणचरिणो) वाणव्यन्तर (अट्ठहा) आठ प्रकार के हैं। (जोइसिया) ज्योतिषी (पंचविहा) पांच प्रकार के होते हैं। (तहा) वैसे ही (वेमाणिया) वैमानिक (दुविहा) दो प्रकार के हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! भवनपति देव दश प्रकार के हैं। वाणव्यन्तर आठ प्रकार के हैं और ज्योतिषी पांच प्रकार के हैं। वैसे ही वैमानिक देव भी दो प्रकार के हैं। अब भवनपति के दश भेद कहते हैं।

मूलः—असुरा नागसुवण्णा,
विज्जू अग्गी वियाहिया।
दीवोदहि दिसा वाया,
थणिया भवणवासिणो ॥१६॥

छायाः—असुरा नागाः सुवर्णाः, विद्युतोऽग्नयो व्याख्याताः।
द्वीपा उदधयो दिशो वायवः, स्तनिता भवनवासिनः ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (असुरा) असुर कुमार (नागसुवण्णा) नाग कुमार, सुवर्ण कुमार (विज्जू) विद्युत कुमार (अग्गी) अग्निकुमार (दीवोदहि) द्वीपकुमार उदधि कुमार (दिसा) दिक्कुमार (वाया) वायुकुमार तथा (थणिया) स्तनित कुमार। इस प्रकार (भवणवासिणो) भवनवासी देव (वियाहिया) कहे गये है।

भावार्थः—हे गौतम ! असुरकुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युत कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार और स्तनितकुमार यों ज्ञानियों द्वारा दश प्रकार के भवनपति देव कहे गये हैं। अब आगे आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव यों है।

मूलः—पिसाय भूय जक्खा य,
रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा।
महोरगा य गंधव्वा,
अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥१७॥

छायाः—पिशाचा भूता यक्षाश्च, राक्षसाः किन्नराः किंपुरुषाः।
महोरगाश्च गन्धर्वाः, अष्टविधा व्यन्तराः ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति। (वाणमंतरा) वाणव्यन्तर देव (अट्ठविहा) आठ प्रकार के होते हैं। जैसे (पिसाय) पिशाच (भूय) भूत (जक्खा) यक्ष (य) और (रक्खसा) राक्षस (य) और (किन्नरा) किन्नर (किंपुरिसा) किंपुरुष (महोरगा) महोरग (य) और (गंधव्वा) गंधर्व।

भावार्थः—हे गौतम ! वाणव्यन्तर देव आठ प्रकार के है। जैसे (१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किंपुरुष (७) महोरग और (८) गंधर्व। ज्योतिषी देवों के पाँच भेद यों हैं—

मूलः—चन्दा सूरा य नक्खत्ता,
गहा तारागणा तहा।
ठिया विचारिणो चेव,
पंचहा जोइसालया ॥१८॥

छाया:—चन्द्राः सूर्याश्च नक्षत्राणि, ग्रहास्तारागणास्तथा ।
स्थिरा विचारिणश्चैव, पंचधा ज्योतिरालयाः ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जोइसालया) ज्योतिषी देव (पंचहा) पांच प्रकार के हैं । (चन्द्रा) चन्द्र (सूरा) सूर्य (य) और (नक्खत्ता) नक्षत्र (गहा) ग्रह (तहा) तथा (तारागणा) तारागण । जो (ठिया) ढाईद्वीप के बाहर स्थिर हैं । (चेव) और ढाईद्वीप के भीतर (विचारिणो) चलते फिरते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! ज्योतिषी देव पांच प्रकार के हैं—(१) चन्द्र (२) सूर्य (३) ग्रह (४) नक्षत्र और (५) तारागण । ये देव ढाईद्वीप के बाहर तो स्थिर रहने वाले है और उसके भीतर चलते फिरते हैं । वैमानिक देवों के भेद यों हैं—

मूलः—वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोद्धव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥१९॥

छाया:—वैमानिकास्तु ये देवाः, द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
कल्पोपगाश्च बोद्धव्याः, कल्पातीतास्तथैव च ॥१९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (देवा) देव (वेमाणिया उ) वैमानिक हैं । (ते) वे (दुविहा) दो प्रकार के (वियाहिया) कहे गये हैं । एक तो (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न (य) और (तहेव य) वैसे ही (कप्पाईया) कल्पातीत (बोधव्वा) जानना ।

भावार्थः—हे गौतम ! वैमानिक देव दो प्रकार के हैं । एक तो कल्पोत्पन्न और दूसरे कल्पातीत । कल्पोत्पन्न से ऊपर के देव कल्पातीत कहलाते है । और जो कल्पोत्पन्न है वे बारह प्रकार के हैं । वे यों हैं—

मूलः—कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसणगा तहा ।
सणंकुमारमाहिन्दा, बम्भलोगा य लंतगा ॥२०॥
महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा ।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥२१॥

छाया:—कल्पोपगा द्वादशधा, सौधर्मेशानगास्तथा ।
सनत्कुमारा माहेन्द्राः, ब्रह्मलोकाश्च लान्तका ॥२०॥

महाशुकाः सहस्राराः, आनताः प्राणतास्तथा ।
आरणा अच्युताश्चैव, इति कल्पोपगाः सुरा ॥२१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न देव (बारसहा) बारह प्रकार के हैं (सोहम्मीसाणगा) सुधर्म, ईशान (तहा) तथा (सणंकुमार) सनत्कुमार (माहिन्दा) महेन्द्र (बम्भलोगा) ब्रह्म (य) और (लंतगा) लांतक (महासुक्का) महाशुक्र (सहस्सारा) सहस्रार (आणया) आनत (पाणया) प्राणत (तहा) तथा (आरणा) आरण (चेव) और (अच्चूया) अच्युत, देव लोक (इद) ये हैं। और इन्हीं के नामों पर से (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न (सुरा) देवों के नाम भी हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! कल्पोत्पन्न देवों के बारह भेद हैं और वे यों है—(१) सुधर्म (२) ईशान (३) सनत्कुमार (४) महेन्द्र (५) ब्रह्म (६) लांतक (७) महाशुक्र (८) सहस्रार (९) आणत (१०) प्राणत (११) आरण और (१२) अच्युत ये देवलोक है। इन स्वर्गों के नाम पर से ही इनमें रहने वाले इन्द्रों के भी नाम हैं। कल्पातीत देवों के नाम यों हैं—

मूलः—कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
गेविज्जाणुत्तरा चेव, गेविज्जानवविहा तहिं ॥२२॥

छाया:—कल्पातीतास्तु ये देवाः, द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
ग्रैवेयका अनुत्तराश्चैव, ग्रैवेयका नवविधास्तत्र ॥२२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (कप्पाईयाउ) कल्पातीत देव हैं, (ते) वे (दुविहा) दो प्रकार के (वियाहिया) कहे गये हैं। (गेविज्ज) ग्रैवेयक (चेव) और (अणुत्तरा) अनुत्तर (तहिं) उसमें (गेविज्ज) ग्रैवेयक (नवविहा) नव प्रकार के हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! कल्पातीत देव दो प्रकार के हैं। एक तो ग्रैवेयक और दूसरे अणुत्तर वैमानिक। उनमें भी ग्रैवेयक नो प्रकार के और अणुत्तर पांच प्रकार के हैं।

मूल:—हेट्ठिमा हेट्ठिमा चेव, हेट्ठिमा मज्झिमा तहा ।
हेट्ठिमा उवरिमा चेव, मज्झिमा हेट्ठिमा तहा ॥२३॥

मज्झिमा मज्झिमा चेव,
मज्झिमा उवरिमा तहा ।
उवरिमा हेट्ठिमा चेव,
उवरिमा मज्झिमा तहा ॥२४॥

उवरिमा उवरिमा चेव, इय गेविज्जगा सुरा ।
विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया ॥२५॥

सव्वत्थसिद्धगा चेव, पंचहाणुत्तरा सुरा ।
इइ वेमाणिया, एएऽणेगहा एवमायओ ॥२६॥

छाया:— अधस्तनाधस्तनाश्चैव, अधस्तनामध्यमास्तथा ।
अधस्तनोपरितनाश्चैव, मध्यमाऽधस्तनास्तथा ॥२३॥
मध्यमामध्यमाश्चैव, मध्यमोपरितनास्तथा ।
उपरितनाऽधस्तनाश्चैव, उपरितनमध्यमास्तथा ॥२४॥
उपरितनोपरितनाश्चैव, इति ग्रैवेयकाः सुरा ।
विजया वैजयन्ताश्च, जयन्ता अपराजिताः ॥२५॥
सर्वार्थसिद्धकाश्चैव, पंचधाऽनुत्तराः सुराः ।
इति वैमानिका एते, अनेकधा एवमाद्यः ॥२६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (हेट्ठिमा हेट्ठिमा) नीचे की त्रिक का नीचे वाला (चेव) और (हेट्ठिमा मज्झिमा) नीचे की त्रिक का बीच वाला । (तहा) तथा (हेट्ठिमाउवरिमा) नीचे की त्रिक का ऊपर वाला (चेव) और (मज्झिमा-हेट्ठिमा) बीच की त्रिक का नीचे वाला (तहा) तथा (मज्झिमा मज्झिमा) बीच की त्रिक का बीच वाला (चेव) और (मज्झिमा उवरिमा) बीच की त्रिक का ऊपर वाला (तहा) तथा (उवरिमाहेट्ठिमा) ऊपर की त्रिक का नीचे वाला

(चेव) और (उवरिमामज्झिमा) ऊपर की त्रिक का बीच वाला (तहा) तथा (उवरिमा उवरिमा) ऊपर की त्रिक का ऊपर वाला (इइ) इस प्रकार नौ भेदों से (गेविज्जगा) ग्रैवेयक के (सुरा) देवता हैं। (विजया) विजय (वेजयन्ता) वैजयंत (य) और (जयंता) जयंत (अपराजिया) अपराजित (चेव) और (सव्वत्थसिद्धगा) सर्वार्थसिद्ध ये (पंचहा) पाँच प्रकार के (अणुत्तरा) अनुत्तर विमान के (सुरा) देवता कहे गये हैं। (इइ) इस प्रकार (एए) ये मुख्य मुख्य (वेमाणिया) वैमानिक देवों के भेद कहे गये हैं। और प्रभेद तो (एवमाईओ) ये आदि में (अणेगहा) अनेक प्रकार के हैं।

भावार्थ:—हे गौतम ! बारह देवलोक से ऊपर नौ ग्रैवेयक जो हैं उनके नाम यों हैं—(१) भद्दे (२) सुभद्दे (३) सुजाये (४) सुमाणसे (५) सुदर्शने (६) प्रियदर्शने (७) अमोहे (८) सुपडिबद्धे और (९) यशोधर और पाँच अनुत्तर विमान यों हैं— (१) विजय (२) वैजयंत (३) जयंत (४) अपराजित (५) सर्वार्थसिद्ध। ये सब वैमानिक देवों के भेद बताए गये हैं।

मूल:—जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलियं[1] ते अइत्थिया।
सीलवंता सविसेसा, अदीणा जंति देवयं ॥२७॥

---

(१) किसी एक साहूकार ने अपने तीन लड़कों को एक-एक हजार रुपया देकर व्यापार करने के लिए इतर देश को भेजा। उनमें से एक ने तो यह विचार किया कि अपने घर में खूब धन है। फिजूल ही व्यापार कर कौन कष्ट उठावे, अतः ऐशो आराम करके उसने मूल पूँजी को भी खो दिया। दूसरे ने विचार किया, कि व्यापार करके मूल पूंजी तो ज्यों की त्यों कायम रखनी चाहिए। परन्तु जो लाभ हो उसे एशो आराम में खर्च कर देना चाहिए। और तीसरे ने विचार किया, कि मूल पूँजी को खूब ही बढ़ाकर घर चलना चाहिए। इसी तरह वे तीनों नियत समय पर घर आये। एक मूल पूंजी को खोकर, दूसरा मूल पूंजी लेकर, और तीसरा मूल पूँजी को खूब ही बढ़ा कर घर आया। इसी तरह आत्माओं को मनुष्य-भव रूप मूल धन प्राप्त हुआ है। जो आत्माएँ मनुष्य भव रूप मूल धन की उपेक्षा करके खूब पापाचरण करती हैं वे मनुष्य-भव को खो कर नरक और तिर्यंच योनियों में जाकर जन्म धारण करती हैं। और जो आत्माएँ पाप करने से पीछे हटती हैं, वे अपनी मूल पूँजी

छायाः—येषां तु विपुला शिक्षा, मूलकं तेऽतिक्रान्ताः ।
शीलवन्तः सविशेषाः, अदीना यान्ति देवत्वम् ॥२७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जेसिं) जिन्होंने (विउला) अत्यन्त (सिक्खा) शिक्षा का सेवन किया है । (ते) वे (सीलवंता) सदाचारी (सविसेसा) उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि करने वाले (अदीणा) अदीन वृत्तिवाले (मूलियं) मूल धन रूप मनुष्य-भव को (अइत्थिया) उल्लंघन कर (देवयं) देव लोक को (जंति) जाते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! इस प्रकार के देव लोकों में वे ही मनुष्य जाते हैं जो सदाचार रूप शिक्षाओं का अत्यन्त सेवन करते हैं । और त्याग धर्म में जिनकी निष्ठा दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है । वे मनुष्य, मनुष्य-भव को त्यागकर स्वर्ग में जाते हैं ।

मूलः—विसालिसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तरउत्तरा ।
महासुक्का वदिप्पंता, मण्णंता अपुणच्चवं ॥२८॥
अप्पिया देवकामाणं, कामरूवविउव्विणो ।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति, पुव्वा वाससया बहू ॥२९॥

छायाः—विसदृशैः शीलैः, यक्षा उत्तरोत्तराः ।
महाशुक्ला इव दीप्यमानाः, मन्यमाना अपुनश्चवम् ॥२८॥
अर्पिता देवकामान्, कामरूपवैक्रियिणः ।
ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति, पूर्वाणि वर्ष शतानि बहूनि ॥२९॥

रूप मनुष्य जन्म ही को प्राप्त होती हैं । परन्तु जो आत्मा अपना वश चलते सम्पूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, ममत्व आदि का परित्याग करके अपने त्याग धर्म में वृद्धि करती जाती हैं । वे सांसारिक सुख की दृष्टि से मनुष्य-भव रूपी मूल पूंजी से भी बढ़ कर देव-योनि को प्राप्त होती हैं । अर्थात् स्वर्ग में जाकर वे आत्माएं जन्म धारण करती हैं और वहां नाना भांति के सुखों को भोगती हैं ।

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (विसालिसेहिं) विसदृश अर्थात् भिन्न-भिन्न (सीलेहिं) सदाचारों से (उत्तरउत्तरा) प्रधान से प्रधान (महासुक्का) महाशुक्ल अर्थात बिलकुल सफेद चन्द्रमा की (व) तरह (दिप्पंता) देदीप्यमान् (अपुणच्चवं) फिर चवना नहीं ऐसा (मण्णंता) मानते हुए (कामरूवविउव्विणो) इच्छित रूप से बनाने वाले (बहू) बहुत (पुव्वावाससया) सैंकड़ों पूर्व वर्ष पर्यंत (उड्ढं) ऊँचे (कप्पेसु) देवलोक में (देवकामाणं) देवताओं के सुख प्राप्त करने के लिए (अप्पिया) अर्पण कर दिये हैं सदाचार रूप व्रत जिनने ऐसी आत्माएँ (जक्खा) देवता बनकर (चिट्ठंति) रहती हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! आत्मा अनेक प्रकार के सदाचारों का सेवन कर स्वर्ग में जाती है। तब वह वहाँ एक से एक देदीप्यमान् शरीरों को धारण करती है। और वहाँ दश हजार वर्ष से लेकर कई सागरोपम तक रहती हैं। वहाँ ऐसी आत्माएँ देवलोक के सुखों में ऐसी लीन हो जाती हैं, कि वहाँ से अब मानो वे कभी मरेंगी ही नहीं, इस तरह से वे मान बैठती हैं।

मूलः—जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए ॥३०॥

छायाः—यथा कुशाग्रे उदकं, समुद्रेण समं मिनुयात्।
एवं मानुष्यकाः कामाः देवकामानामन्तिके ॥३०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (कुसग्गे) घास के अग्रभाग पर की (उदगं) जल की बूंद का (समुद्देण) समुद्र के (समं) साथ (मिणे) मिलान किया जाय तो क्या वह उसके बराबर हो सकती है ! नहीं (एवं) ऐसे ही (माणुस्सगा) मनुष्य सम्बन्धी (कामा) काम भोगों के (अंतिए) समीप (देवकामाणं) देव सम्बन्धी काम भोगों को समझना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार घास के अग्रभाग पर की जल की बूंद में और समुद्र की जलराशि में भारी अन्तर है। अर्थात् कहाँ तो पानी की बूंद और कहाँ समुद्र की जल राशि ! इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी काम भोगों के सामने देव सम्बन्धी काम भोगों को समझना चाहिए। सांसारिक सुख का परम प्रकर्ष बताने के लिए यह कथन किया गया है। आत्मिक विकास की दृष्टि से मनुष्य भव देवभव से श्रेष्ठ है।

मूलः—तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायई[1] ॥३१॥

छायाः—तत्र स्थित्वा यथास्थानं, यक्षा आयुःक्षये च्युताः ।
उपयान्ति मानुषीं योनिं, स दशांगोऽभिजायते ॥३१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तत्थ) यहाँ देवलोक में (जक्खा) देवता (जहाठाणं) यथास्थान (ठिच्चा) रह कर (आउक्खए) आयुष्य के क्षय होने पर वहाँ से (चुया) च्यव कर (माणुसं) मनुष्य (जोणिं) योनि को (उवेंति) प्राप्त होता है। और जहाँ जाती है वहाँ (से) वह (दसंगे) दस अंगवाला अर्थात् समृद्धिशाली (अभिजायई) होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! यहाँ जो आत्माएँ शुभ कर्म करके स्वर्ग में जाती हैं, वहाँ वे अपनी आयुष्य को पूरा कर अवशेष पुण्यों से फिर वे मनुष्य योनि को प्राप्त करती है। जिसमें भी यह समृद्धिशाली होती है।

इस कथन का यह आशय नहीं समझना चाहिए कि देव गति के बाद मनुष्य ही होता है। देव तिर्यंच भी हो सकता है और मनुष्य भी, परन्तु यहाँ उत्कृष्ट आत्माओं का प्रकरण है इसी कारण मनुष्य गति की प्राप्ति कही गई है।

मूलः—खित्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं ।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जई ॥३२॥

छायाः—क्षेत्रं वास्तु हिरण्यञ्च, पशवो दासपौरुषम् ।
चत्वारः कामस्कन्धाः, तत्र स उत्पद्यते ॥३२॥

---

(१) एक वचन होने से इसका आशय यह है कि समृद्धि के दश अंग अन्यत्र कहे हुए हैं। उनमें से देवलोक से च्यव कर मृत्यु-लोक में आने वाली कितनीक आत्माओं को तो समृद्धि के नौ ही अंग प्राप्त होते हैं। और किसी को आठ। इसीलिये एक वचन दिया है।

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! (खित्तं) क्षेत्र जमीन (वत्थु) घर वगैरह (च) और सोना-चांदी (पसवो) गाय-भैंस वगैरह (दास) नौकर (पोक्खं) कुटुम्बी जन, इस तरह से (चत्तारि) ये चार (कामखंधाणि) काम भोगों का समूह बहुतायत से है, (तत्थ) वहां पर (से) वह (उववज्जई) उत्पन्न होता है।

भावार्थ:— हे गौतम ! जो आत्मा गृहस्थ का यथातथ्यधर्म तथा साधुव्रत पाल कर स्वर्ग में जाती है, वह वहां से च्यव कर ऐसे गृहस्थ के घर जन्म लेती है, कि जहां (१) खुली जमीन अर्थात् बाग वगैरह, खेत वगैरह (२) ढंकी जमीन अर्थात् मकानात वगैरह (३) पशु भी बहुत है और (४) नौकर चाकर एवं कुटुम्बी जन भी बहुत है, इस प्रकार जो यह चार प्रकार के काम भोगों की सामग्री है उसे समृद्धि का प्रथम अङ्ग कहते हैं। इस अंग की जहां प्रचुरता होती है वहां स्वर्ग से आने वाली आत्मा जन्म लेती है। और साथ ही में जो आगे नौ अंग कहेंगे वे भी उसे वहां मिलते हैं।

मूल:—मित्तवं नाइवं होइ, उच्चगोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापण्णे, अभिजाए जसोबले ॥२३॥

छाया:—मित्रवान् ज्ञातिवान् भवति, उच्चैर्गोत्रो वीर्यवान्।
अल्पातङ्को महाप्राज्ञः, अभिजातो यशस्वी बली ॥२३॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति ! स्वर्ग से आने वाला जीव (मित्तवं) मित्र वाला (नाइवं) कुटुम्ब वाला (उच्चगोए) उच्च गोत्र वाला (वण्णवं) कांति वाला (अप्पायंके) अल्प व्याधि वाला (महापण्णे) महान् बुद्धि वाला (अभिजाए) विनय वाला (जसो) यशवाला (य) और (बले) बल वाला (होइ) होता है।

भावार्थ:—हे गौतम ! स्वर्ग से आवे हुए जीव को समृद्धि का अंग मिलने के साथ ही साथ (१) वह अनेकों मित्रों वाला होता है। (२) इसी तरह कुटुम्बी जन भी उसके बहुत होते हैं (३) इसी तरह वह उच्च गोत्र वाला होता है। (४) अल्प व्याधिवाला (५) रूपवान् (६) विनयवान् (७) यशस्वी (८) बुद्धिशाली एवं (९) बली, वह होता है।

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः ॥

□

॥ ॐ ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(अध्याय अठारहवाँ)

मोक्ष-स्वरूप

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः—आणाणिद्देसकरे, गुरुणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥१॥

छायाः—आज्ञानिर्देशकरः, गुरुणामुपपातकारकः ।
इङ्गिताकारसम्पन्नः, स विनीत इत्युच्यते ॥१॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (आणाणिद्देसकरे) जो गुरु जन एवं बड़े-बूढ़ों की न्याययुक्त बातों का पालन करने वाला हो, और (गुरुणं) गुरु जनों के (उववायकारए) समीप रहने वाला हो, और उनकी (इंगियागारसंपन्ने) कुछेक भृकुटी आदि चेष्टाएँ एवं आकार को जानने में सम्पन्न हो (से) वही (विणीए) विनीत है (त्ति) ऐसा (वुच्चई) कहा है ।

भावार्थः—हे गौतम ! मोक्ष के साधन रूप विनम्र भावों को धारण करने वाला विनीत है, जो कि अपने बड़े-बूढ़े गुरुजनों तथा आप्त पुरुषों की आज्ञा का यथायोग्य रूप से पालन करता हो, उनकी सेवा में रह कर अपना अहोभाग्य समझता हो, और उनकी प्रवृत्ति निवृत्ति सूचक भृकुटी आदि चेष्टाओं तथा मुखाकृति को जानने में जो कुशल हो, वह विनीत है । और इसके विपरीत जो अपना बर्ताव रखने वाला हो, अर्थात् बड़े बूढ़े गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन करता हो, तथा उनकी सेवा की जो उपेक्षा करे, वह अविनीत है या धृष्ट है ।

मूल:—अणुसासिओ न कुप्पिज्जा,
खंतिं सेविज्ज पंडिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं,
हासं कीडं च वज्जए ॥२॥

छाया:—अनुशासितो न कुप्येत्, क्षान्तिं सेवेत पण्डितः।
क्षुद्रैः, सह संसर्गं, हास्यं क्रीडां च वर्जयेत् ॥२॥

अन्वयार्थ:—हे इन्द्रभूति! (पंडिए) पंडित वही है, जो (अणुसासिओ) शिक्षा देने पर (न) नहीं (कुप्पिज्जा) क्रोध करे, और (खंतिं) क्षमा को (सेविज्ज) सेवन करता रहे। (खुड्डेहिं) बाल अज्ञानियों के (सह) साथ (संसग्गिं) संसर्ग (हासं) हास्य (च) और (कीडं) क्रीड़ा को (वज्जए) त्यागे।

भावार्थ—हे गौतम! पंडित वही है, जो कि शिक्षा देने पर क्रोध न करे और क्षमा को अपना अंग बनाले। तथा दुराचारी और अज्ञानियों के साथ कभी भी हंसी-ठट्ठा न करे, ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

मूल:—आसणगओ ण पुच्छेज्जा,
णेव सेज्जागओ कयाइवि।
आगम्मुक्कुडुओ संतो,
पुच्छेज्जा पंजलीउडो ॥३॥

छाया:—आसनगतो न पृच्छेत्, नैव शय्यागतः कदापि च।
आगम्य उत्कुटुकः सन्, पृच्छेत् प्राञ्जलिपुटः ॥३॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति! गुरुजनों से (आसणगओ) आसन पर बैठे हुए कोई भी प्रश्न (ण) नहीं (पुच्छेज्जा) पूछना और (कयाइवि) कदापि (सेज्जागओ) शय्या पर बैठे हुए भी (ण) नहीं पूछना, हाँ (आगम्मुक्कुडुओ) गुरुजनों के पास आकर उकडूं आसन से (सन्तो) बैठकर (पंजलीउडो) हाथ जोड़ कर (पुच्छेज्जा) पूछना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम ! अपने बड़े-बूढ़े गुरुजनों को कोई भी बात पूछना हो तो आसन पर बैठे हुए या शयन करने के बिछौने पर बैठे ही बैठे कभी नहीं पूछना चाहिए। क्योंकि इस तरह पूछने से गुरुजनों का अपमान होता है। और ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं होती है। अतः उनके पास जा कर उकडूं आसन[1] से बैठ कर हाथ जोड़कर प्रत्येक बात को गुरु से पूछे।

मूलः—जं मे वुद्धाणुसासंति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥४॥

छायाः—यन्मां बुद्धा अनुशासन्ति, शीतेन परुषेण वा।
मम लाभ इति प्रेक्ष्य, प्रयतस्तत् प्रतिशृणुयात् ॥४॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (बुद्धा) बड़े-बूढ़े गुरुजन (जं) जो शिक्षा दें, उस समय यों विचार करना चाहिए, कि (मे) मुझे (सीएण) शीतल (व) अथवा (फरुसेण) कठोर शब्दों से (अणुसासंति) शिक्षा देते हैं। यह (मम) मेरा (लाभो) लाभ है (त्ति) ऐसा (पेहाए) समझ कर षट्कायों की रक्षा के लिए (पयओ) प्रयत्न करने वाला महानुभाव (तं) उस बात को (पडिस्सुणे) श्रवण करे।

भावार्थ—हे गौतम ! बड़े-बूढ़े व गुरुजन मधुर या कठोर शब्दों में शिक्षा दें, उस समय अपने को यों विचार करना चाहिए, कि जो यह शिक्षा दी जा रही है, वह मेरे लौकिक और पारलौकिक सुख के लिए है। अतः उनकी अमूल्य शिक्षाओं को प्रसन्नचित्त से श्रवण करते हुए अपना अहोभाग्य समझना चाहिए।

मूलः—हियं विगयभया बुद्धा, फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं, खंतिसोहिकरं पयं ॥५॥

छायाः—हितं विगतभया बुद्धाः, परुषमप्यनुशासनम्।
द्वेषं भवति मूढानां, क्षान्तिशुद्धिकरं पदम् ॥५॥

अन्वयार्थ—हे इन्द्रभूति ! (विगयभया) चला गया हो भय जिससे ऐसा (बुद्धा) तत्त्वज्ञ, विनयशील अपने बड़े-बूढ़े गुरुजनों की (फरुसं) कठोर (अणु-

१ Sitting on kneels.

सासणं) शिक्षा को (पि) भी (हियं) हितकारी समझता है, और (मूढाणं) मूर्ख, "अविनीत" (खंतिसोहिकरं) क्षमा उत्पन्न करने वाला, तथा आत्म-शुद्धि करने वाला, ऐसा जो (पय) ज्ञान रूप पद (तं) उसको श्रवण कर (तेसं) द्वेष युत (होइ) हो जाता है।

भावार्थः—हे गौतम ! जिसको किसी प्रकार की चिन्ता भय नहीं है, ऐसा जो तत्त्वज्ञ, विनयवान महानुभाव अपने बड़े-बूढ़े गुरुजनों की अमूल्य शिक्षाओं को कठोर शब्दों में भी श्रवण करके उन्हें अपना परम हितकारी समझता है। और जो अविनीत मूर्ख होते हैं, वे उनकी हितकारी और श्रवणसुखद शिक्षाओं को सुन कर द्वेषानल में जल मरते हैं।

मूलः—अभिक्खणं कोही हवइ, पबंधं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ॥६॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥७॥
पइण्णवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अवियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चई ॥८॥

छायाः—अभीक्ष्णं क्रोधी भवति, प्रबन्धं च प्रकरोति।
मैत्रीयमाणो वमति, श्रुतं लब्ध्वा माद्यति ॥६॥
अपि पापपरिक्षेपी, अपि मित्रेभ्यः कुप्यति।
सुप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि भाषते पापकम् ॥७॥
प्रकीर्णवादी द्रोहशीलः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
असंविभाग्यप्रीतिकरः, अविनयीतत्युच्यते ॥८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अभिक्खणं) बार-बार (कोही) क्रोध युत (हवइ) होता हो (च) और सदैव (पबंधं) कलहोत्पादक कथा ही (पकुव्वई) करता हो (मेत्तिज्जमाणो) मैत्रीभाव को (वमइ) वमन करे (सुयं) श्रुतज्ञान को (लद्धूण) पाकर (मज्जई) मद करे (पावपरिक्खेवी) बड़े-बूढ़े व गुरुजनों की न कुछ भूल को भी निंदा रूप में करता (अवि) ही रहे (मित्तेसु) मित्रों पर

(अवि) भी (कुप्पइ) क्रोध करता रहे (सुप्पियस्स) सुप्रिय (मित्तस्स) मित्र के (अवि) भी (रहे) परोक्ष रूप में उसके (पावगं) पाप दोष (भासइ) कहता हो। (पइण्णवाई) सम्बन्ध रहित बहुत बोलने वाला हो, (दुहिले) द्रोही हो (थद्धे) घमण्डी हो। (लुद्धे) रसादिक स्वाद में लिप्त हो (अणिग्गहे) अनिग्रहीत इन्द्रियों वाला हो (असंविभागी) किसी को कुछ नहीं देता हो (अवियत्ते) पूछने पर भी अस्पष्ट बोलता हो, वह (अविणीए) अविनीत है। (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) ज्ञानी-जन कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो सदैव क्रोध करता है, जो कलहोत्पादक बातें ही नयी-नयी घड़ कर सदा कहता रहता है, जिसका हृदय मैत्री भावों से विहीन हो, ज्ञान सम्पादन करके जो उसके गर्व में चूर रहता हो, अपने बड़े-बूढ़े व गुरुजनों की न कुछ सी भूलों को भी भयंकर रूप जो देता हो, अपने प्रगाढ़ मित्रों पर भी क्रोध करने से जो कभी न चूकता हो, घनिष्ट मित्रों का भी उनके परोक्ष में दोष प्रकट करता रहता हो, वाक्य या कथा का सम्बन्ध न मिलने पर भी जो वाचाल की भाँति बहुत अधिक बोलता हो, प्रत्येक के साथ द्रोह किये बिना जिसे चैन ही नहीं पड़ता हो, गर्व करने में भी जो कुछ कोर कसर नहीं रखता हो, रसादिक पदार्थों के स्वाद में सदैव आसक्त रहता हो, इन्द्रियों के द्वारा जो पराजित होता रहता हो, जो स्वयं पेटू हो, और दूसरों को एक कौर भी कभी नहीं देता हो और पूछने पर भी जो सदा अनजान की ही भाँति बोलता हो, ऐसा जो पुरुष है, वह फिर चाहे जिस जाति, कुल व कौम का क्यों न हो, अविनीत है, अर्थात् अविनयशील है। उसकी इस लोक में तो प्रशंसा होगी ही क्यों ? परन्तु परलोक में भी वह अधोगामी बनेगा।

मूलः—अह पण्णरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥९॥

छायाः—अथ पञ्चदशभिः स्थानैः, सुविनीत इत्युच्यते।
नीचवृत्त्यचपलः, अमाय्यकुतूहलः ॥९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अह) अब (पण्णरसहिं) पन्द्रह (ठाणेहिं) स्थानों, बातों से (सुविणीए) अच्छा विनीत है (त्ति) ऐसा (वुच्चई) ज्ञानी गण कहते हैं। और वे पन्द्रह स्थान यों हैं। (नीयावित्ती) नम्र हो, बड़े-बूढ़े व

गुरुजनों के आसन से नीचे बैठने वाला हो, (अचपले) चपलता रहित हो (अमाई) निष्कपट हो (अकुऊहले) कुतूहल रहित हो।

भावार्थः— हे गौतम ! पन्द्रह कारणों से मनुष्य विनम्र शीलवान् या विनीत कहलाता है—वे पन्द्रह कारण यों हैं (१) अपने बड़े-बूढ़े व गुरुजनों के साथ नम्रता से जो बोलता हो, (२) उनसे नीचे आसन पर बैठता हो, पूछने पर हाथ जोड़ कर बोलता हो; बोलने, चलने, बैठने आदि में जो चपलता न दिखाता हो (३) सदैव निष्कपट भाव से जो बर्ताव करता हो (४) खेल, तमाशे, आदि कौतुकों के देखने में उत्सुक न हो।

मूलः—अप्पं चाहिक्खिवई, पबंधं च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयई, सुयं लद्धुं न मज्जई ॥१०॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥११॥
कलहडमरवज्जए, बुद्धे अभिजाइए।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई ॥१२॥

छायाः—अल्पं च अधिक्षिपति, प्रबन्धं च न करोति।
मैत्रीपमाणो भजते, श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति ॥१०॥
न च पापपरिक्षेपी, न च मित्रेषुः कुप्यति।
अप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि कल्याणं भाषते ॥११॥
कलहडमरवर्जकः, बुद्धोऽभिजातकः।
ह्रीमान् प्रतिसंलीनः, सुविनीत इत्युच्यते ॥१२॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (अहिक्खिवई) बड़े-बूढ़े तथा गुरुजन आदि किसी का भी जो तिरस्कार न करता हो (च) और (पबंधं) कलहोत्पादक कथा (न) नहीं (कुव्वई) करता हो, (मेत्तिज्जमाणो) मित्रता को (भयई) निभाता हो, (सुयं) श्रुतज्ञान को (लद्धुं) पा करके जो (न) नहीं (मज्जई) मद करता हो (य) और (न) नहीं करता हो (पावपरिक्खेवी) बड़े-बूढ़े तथा गुरुजनों की

कुछेक भूल को (य) और (मित्तेसु) मित्रों पर (न) नहीं (कुप्पई) क्रोध करता हो (अप्पियस्स) अप्रिय (मित्तस्स) मित्र के (रहे) परोक्ष में (अवि) भी, उस के (कल्लाण) गुणानुवाद (भासई) बोलता हो, (कलहडमरवज्जए) वाक्‌युद्ध और काया युद्ध दोनों से अलग रहता हो, (बुद्धे) वह तत्त्वज्ञ फिर (अभिजाइए) कुलीनता के गुणों से युक्त हो, (हिरिमं) लज्जावान हो, (पडिसंलीणे) इन्द्रियों पर विजय पाया हुआ हो, वह (सुविणीए) विनीत है। (त्ति) ऐसा ज्ञानी जन (बुच्चई) कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! फिर तत्त्वज्ञ महानुभाव (५) अपने बड़े-बूढ़े तथा गुरुजनों का कभी तिरस्कार नहीं करता हो (६) दुष्ट फसाद की बातें न करता हो (७) उपकार करने वाले मित्र के साथ बने वहाँ तक पीछा उपकार ही करता हो, यदि उपकार करने की शक्ति न हो तो अपकार से तो सदा सर्वदा दूर ही रहता हो (८) ज्ञान पा कर घमण्ड न करता हो (९) अपने बड़े-बूढ़े तथा गुरुजनों की कुछेक भूल को भयंकर रूप न देता हो (१०) अपने मित्र पर कभी भी क्रोध न करता हो (११) परोक्ष में भी अप्रिय मित्र का अवगुणों के बजाय गुणगान ही करता हो (१२) वाक् युद्ध और काया युद्ध दोनों से जो कतई दूर रहता हो, (१३) कुलीनता के गुणों से सम्पन्न हो (१४) लज्जावान् अर्थात् अपने बड़े-बूढ़े तथा गुरुजनों के समक्ष नेत्रों में शरम रखने वाला हो (१५) और जिसने इन्द्रियों पर पूर्ण साम्राज्य प्राप्त कर लिया हो, वही विनीत है। ऐसे ही की इस लोक में प्रशंसा होती है और परलोक में उन्हें शुभ गति मिलती है।

मूलः—जहा हि अग्गी जलण नमंसे,
नाणाहुई मंतपयाभिसित्तं।
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा,
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥१३॥

छायाः—यथाहिताग्निर्ज्वलनं नमस्यति,
नानाऽऽहुतिमंत्रपदाभिषिक्तम्।
एवमाचार्यमुपतिष्ठेत्,
अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥१३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (आहिअग्गी) अग्निहोत्री ब्राह्मण (अग्गणं) अग्नि को (नमंसे) नमस्कार करते हैं। तथा (नाणा हुई मंतपयाभिसत्तं) नाना प्रकार से घी प्रक्षेप रूप आहुति और मंत्र पदों से उसे सिंचित करते हैं (एवायरियं) इसी तरह से बड़े-बूढ़े व गुरुजन और आचार्य की (अणंतनाणोवग-ओसंतो) अनन्त ज्ञान युत् होने पर (वि) भी (उवचिट्ठइज्जा) सेवा करनी ही चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार अग्निहोत्र ब्राह्मण अग्नि को नमस्कार करते हैं, और उसको अनेक प्रकार से घी प्रक्षेप रूप आहुति एवं मंत्र पदों से सिंचित करते हैं इसी तरह पुत्र और शिष्यों का कर्त्तव्य और धर्म है कि चाहे वे अनन्त ज्ञानी भी क्यों न हों उनको अपने बड़े-बूढ़े और गुरुजनों एवं आचार्य की सेवा शुश्रूषा करनी ही चाहिए। जो ऐसा करते हैं, वे ही सचमुच में विनीत हैं।

मूलः—आयरियं कुवियं णच्चा, पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलीउडो, वइज्ज ण पुणुत्ति य ॥१४॥

छायाः—आचार्यं कुपितं ज्ञात्वा, प्रीत्या प्रसादयत्।
विध्यापयेत् प्राञ्जलिपुटः, वदेन्न पुनरिति च ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (आयरियं) आचार्य को (कुवियं) कुपित (णच्चा[1]) जान कर (पत्तिएण) प्रीतिकारक शब्दों से फिर (पसायए) प्रसन्न करे (पंजलीउडो) हाथ जोड़ कर (विज्झवेज्ज) शान्त करे (य) और (ण पुणुत्ति) फिर ऐसा अविनय नहीं करूँगा ऐसा (वइज्ज) बोले।

भावार्थः—हे गौतम ! बड़े-बूढ़े गुरुजन एवं आचार्य अपने पुत्र शिष्यादि के अविनय से कुपित हो उठें तो प्रीतिकारक शब्दों के द्वारा पुनः उन्हें प्रसन्न

(१) कई जगह "णच्चा" की जगह 'नच्चा' भी मूल पाठ में आता है। ये दोनों शुद्ध हैं। क्योंकि प्राकृत में नियम है, कि "नो णः" नकार का णकार होता है। पर शब्द के आदि में हो तो वहाँ 'वा आदौ' इस सूत्र से नकार का णकार विकल्प से हो जाता है। अर्थात् नकार या णकार दोनों में से कोई भी एक हो।

चित्त करे, हाथ जोड़-जोड़ कर उनके क्रोध को शान्त करे, और यों कहकर कि "इस प्रकार" का अविनय या अपराध आगे से मैं कभी नहीं करूँगा, अपने अपराध की क्षमा याचना करे।

मूलः—णच्चा णमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायइ।
हवइ किच्चाण सरणं, भूयाणं जगइ जहा ॥१५॥

छायाः—ज्ञात्वा नमति मेधावी, लोके कीर्तिस्तस्य जायते।
भवति कृत्यानां शरणं, भूतानां जगती यथा ॥१५॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! इस प्रकार विनय की महत्ता को (णच्चा) जान कर (मेहावी) बुद्धिमान् मनुष्य (णमइ) विनयशील हो, जिससे (से) वह (लोए) इस लोक में (कित्ती) कीर्ति का पात्र (जायइ) होता है। (जहा) जैसे (भूयाणं) प्राणियों को (जगई) पृथ्वी आश्रयभूत है, ऐसे ही विनीत महानुभाव (किच्चाण) पुण्य क्रियाओं का (सरणं) आश्रयरूप (हवइ) होता है।

भावार्थः—हे गौतम! इस प्रकार विनय की महत्ता को समझ कर बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि इस विनय को अपना परम सहचर सखा बनाले। जिससे वह इस संसार में प्रशंसा का पात्र हो जाय। जिस प्रकार यह पृथ्वी सभी प्राणियों को आश्रयरूप है, ऐसे ही विनयशील मानव भी सदाचार रूप अनुष्ठान का आश्रयरूप है। अर्थात् कृत कर्मों के लिए खदान रूप है।

मूलः—स देवगंधव्वमणुस्सपूइए,
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए,
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥१६॥

छायाः—स देवगन्धर्व मनुष्य पूजितः,
त्यक्त्वा देहं मलपङ्क पूर्वकम्।
सिद्धो भवति शाश्वतः,
देवो वापि महर्द्धिकः ॥१६॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति (देवगंधव्वमणुस्सपूइए) देव, गंधर्व और मनुष्य से पूजित (स) वह विनयशील मनुष्य (मलपंकपुव्वयं) रुधिर और वीर्य से बनने वाले (देहं) मानव शरीर को (चइत्तु) छोड़ करके (सासए) शाश्वत (सिद्धे वा) सिद्ध (हवइ) होता है (वा) अथवा (अप्परए) अल्प कर्म वाला (महिड्ढिए) महा ऋद्धिवान (देवे) देवता होता है।

भावार्थः—हे गौतम ! देव, गंधर्व और मनुष्यों के द्वारा पूजित ऐसा वह विनीत मनुष्य रुधिर और वीर्य से बने हुए इस शरीर को छोड़कर शाश्वत सुखों को सम्पादन कर लेता है। अथवा अल्प कर्म वाले महा ऋद्धिवान देवों की श्रेणी में जन्म धारण करता है। ऐसा ज्ञानी जनों ने कहा है।

मूलः—अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥१७॥

छायाः—अस्त्येकं ध्रुवं स्थानं, लोकाग्रे दुरारोहम्।
यत्र नास्ति जरामृत्यु, व्याधयो वेदनास्तथा ॥१७॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (लोगग्गम्मि) लोक के अग्र भाग पर (दुरारुहं) कठिनता से चढ़ सके ऐसा (एगं) एक (धुवं) निश्चल (ठाणं) स्थान (अत्थि) है। (जत्थ) जहाँ पर (जरामच्चू) जरामृत्यु (वाहिणो) व्याधियों (तहा) तथा (वेयणा) वेदना (नत्थि) नहीं है।

भावार्थः—हे गौतम ! कठिनता से जा सके, ऐसा एक निश्चल, लोक के अग्र भाग पर, स्थान है। जहाँ पर न वृद्धावस्था का दुख है और न व्याधियों ही की लेन-देन है तथा शारीरिक व मानसिक वेदनाओं का भी वहाँ नाम नहीं है।

मूलः—निव्वाणं ति अबाहं ति, सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवमणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ॥१८॥

छायाः—निर्वाणमित्यबाधमिति, सिद्धिर्लोकाग्रमेव च।
क्षेमं शिवमनाबाधं, यच्चरन्ति महर्षयः ॥१८॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! वह स्थान (निव्वाणंति) निर्वाण (अबाहं ति) अबाध (सिद्धी) सिद्धि (य) और (एव) ऐसे ही (लोगग्गं) लोकाग्र (खेमं) क्षेम (सिवं) शिव (अणाबाह) अनाबाध, इन शब्दों से भी पुकारा जाता है। ऐसे (जं) उस स्थान को (महेसिणो) महर्षि लोग (चरंति) जाते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! उस स्थान को निर्वाण भी कहते हैं, क्योंकि वहाँ आत्मा के सर्व प्रकार के संतापों का एकदम अभाव रहता है। अबाधा भी उसी स्थान का नाम है, क्योंकि वहाँ आत्मा को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती है। उसको सिद्धि भी कहते हैं, क्योंकि आत्मा ने अपना इच्छित कार्य सिद्ध कर लिया है। और लोक के अग्र भाग पर होने से लोकाग्र भी उसी स्थान को कहते हैं। फिर उसका नाम क्षेम भी है, क्योंकि वहाँ आत्मा को शाश्वत सुख मिलता है। उसी को शिव भी कहते हैं, क्योंकि आत्मा निरुपद्रव होकर सुख भोगती रहती है। इसी तरह उसको अनाबाध[1] भी कहते हैं क्योंकि वहाँ गयी हुई आत्मा स्वाभाविक सुखों का उपभोग करती रहती है, किसी भी तरह की बाधा उसे वहाँ नहीं होती। इस प्रकार के उस स्थान को संयमी जीवन के बिताने वाली आत्माएँ शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करती है।

मूलः—नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥१९॥

छायाः—ज्ञानं च दर्शनं चैव, चरित्रं च तपस्तथा।
एतन्मार्गमनुप्राप्ताः, जीवा गच्छन्ति सुगतिम् ॥१९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (नाणं) ज्ञान (च) और (दंसणं) श्रद्धान (चेव) और इसी तरह (चरित्तं) चारित्र (च) और (तहा) वैसे ही (तवो) तप (एयं) इन चार प्रकार के (मग्गं) मार्ग को (अणुप्पत्ता) प्राप्त होने पर (जीवा) जीव (सोग्गइं) मुक्ति गति को (गच्छंति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! इस प्रकार के मोक्ष स्थान में वही जीव पहुँच पाता है, जिसे सम्यक् ज्ञान है, वीतरागों के वचनों पर जिसे श्रद्धा है, जो चारित्रवान है और तप में जिसकी प्रवृत्ति है। इस तरह इन चारों मार्गों को यथाविधि

१ Natural happiness.

जो पालन करता रहता है। फिर उसके लिए मुक्ति कुछ भी दूर नहीं है। क्योंकि—

मूल:—नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हइ, तवेण परिसुज्झई ॥२०॥

छाया:—ज्ञानेन जानाति भावान् दर्शनेन च श्रद्धते।
चारित्रेण निगृह्णाति, तपसा परिशुद्धयति ॥२०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (नाणेण) ज्ञान से (भावे) जीवादिक तत्त्वों को (जाणई) जानता है (य) और (दंसणेण) दर्शन से उन तत्त्वों को (सद्दहे) श्रद्धता है। (चरित्तेण) चारित्र से नवीन पाप (निगिण्हइ) रुकता है। और (तवेण) तपस्या करके (परिसुज्झई) पूर्व संचित कर्मों को क्षय कर डालता है।

भावार्थः—हे गौतम ! सम्यक्ज्ञान के द्वारा जीव तात्त्विक पदार्थों को भलीभाँति जान लेता है। दर्शन के द्वारा उसकी उनमें श्रद्धा हो जाती है। चारित्र अर्थात् सदाचार से भावी नवीन कर्मों को वह रोक लेता है। और तपस्या के द्वारा करोड़ों भवों के पापों को वह क्षय कर डालता है।

मूल:—नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अण्णाण मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥२१॥

छाया:—ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया, अज्ञानमोहस्य विवर्जनया।
रागस्य द्वेषस्य च संक्षयेण, एकान्तसौख्यं समुपैति मोक्षम् ॥२१॥

अन्वयार्थः— हे इन्द्रभूति ! आत्मा (सव्वस्स) सर्व (नाणस्स) ज्ञान के (पगासणाए) प्रकाशित होने से (अण्णाणमोहस्स) अज्ञान और मोह के (विवज्जणाए) छूट जाने से (य) और (रागस्स) राग (दोसस्स) द्वेष के (संखएणं) क्षय हो जाने से (एगंतसोक्खं) एकान्त सुख रूप (मोक्खं) मोक्ष को (समुवेइ) प्राप्ति करता है।

भावार्थः—हे गौतम ! सम्यक्ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान, अश्रद्धान् के छूट जाने से और राग-द्वेष के समूल नष्ट हो जाने से, एकान्त सुख रूप जो मोक्ष है, उसकी प्राप्ति होती है ।

मूलः—सव्वं तओ जाणइ पासए य,
अमोहणे होइ निरंतराए ।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते,
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥२२॥

छायाः—सर्वं ततो जानाति पश्यति च,
अमोहनो भवति निरन्तरायः ।
अनास्रवो ध्यानसमाधियुक्तः,
आयुःक्षये मोक्षमुपैति शुद्धः ॥२२॥

अन्वयार्थः— हे इन्द्रभूति ! (तओ) सम्पूर्ण ज्ञान के हो जाने के पश्चात् (सव्वं) सर्व जगत् को (जाणइ) जान लेता है । (य) और (पासए) देख लेता है । फिर (अमोहणे) मोह रहित और (अणासवे) आस्रव रहित (होइ) होता है । (झाणसमाहिजुत्ते) शुक्लध्यान रूप समाधि से युक्त होने पर वह (आउक्खए) आयुष्य क्षय होने पर (सुद्धे) निर्मल (मोक्खं) मोक्ष को (उवेइ) प्राप्त होता है ।

भावार्थः—हे गौतम ! शुक्लध्यान रूप समाधि से युक्त होने पर वह जीव मोह और अन्तराय रहित हो जाता है । तथा वह सर्व लोक को जान लेता है और देख लेता है । अर्थात् शुक्लध्यान के द्वारा जीव चार घनघातिया कर्मों का नाश करके इन चार गुणों को पाता है । तदनन्तर आयु आदि चार अघातिया कर्मों का नाश हो जाने पर वह निर्मल मोक्ष स्थान को पा लेता है ।

मूलः—सुक्कमूले जहा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति ।
एवं कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयंगए ॥२३॥

छाया:—शुष्कमूलो यथा वृक्षः, सिच्यमानो न रोहति ।
एवं कर्माणि न रोहन्ति मोहनीये क्षयंगते ॥२३॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (सुक्कमूले) सूख गया है मूल जिसका ऐसा (रुक्खे) वृक्ष, (सिच्चमाणे) सींचने पर (ण) नहीं (रोहति) लहलहाता है (एवं) उसी प्रकार (मोहणिज्जे) मोहनीय कर्म (खयंगए) क्षय हो जाने पर पुनः (कम्मा) कर्म (ण) नहीं (रोहंति) उत्पन्न होते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस वृक्ष की जड़ सूख गई हो उसे पानी से सींचने पर भी वह लहलहाता नहीं है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर पुनः कर्म उत्पन्न नहीं होते हैं । क्योंकि, जब कारण ही नष्ट हो गया, तो फिर कार्य कैसे हो सकता है ?

मूलः—जहा दड्ढाणं बीयाणं, ण जायंति पुणंकुरा ।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा ॥२४॥

छाया:—यथा दग्धानामङ्कुराणाम्, न जायन्ते पुनरंकुराः ।
कर्मबीजेषु दग्धेषु, न जायन्ते भवांकुराः ॥२४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (दड्ढाणं) दग्ध (बीयाणं) बीजों के (पुणंकुरा) फिर अंकुर (ण) नहीं (जायंति) उत्पन्न होते हैं । उसी प्रकार (दड्ढेसु) दग्ध (कम्मबीएसु) कर्म बीजों में से (भवंकुरा) भव रूपी अंकुर (न) नहीं (जायंति) उत्पन्न होते हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार जले भूंजे बीजों को बोने से अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार जिसके कर्म रूपी बीज नष्ट हो गये हैं, सम्पूर्ण क्षय हो गये हैं, उस अवस्था में उसके भव रूपी अंकुर पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं । यही कारण है कि मुक्तात्मा फिर कभी मुक्ति से लौटकर संसार में नहीं आते ।

॥ श्री गौतमउवाच ॥

मूलः—कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदि चइत्ता णं[1], कत्थ गंतूण सिज्झई ॥२५॥

१ णं वाक्यालंकार ।

छाया:—क्व प्रतिहताः सिद्धाः, क्व सिद्धाः प्रतिष्ठिताः ।
क्व शरीरं त्यक्त्वा, कुत्र गत्वा सिद्धयन्तिः ॥२५॥

अन्वयार्थः—हे प्रभो ! (सिद्धा) सिद्ध जीव (कहिं) कहाँ पर (पडिहया) प्रतिहत हुए हैं ? (कहिं) कहाँ पर (सिद्धा) सिद्ध जीव (पइट्ठिया) रहे हुए हैं ? (कहिं) कहाँ पर (बोंदि) शरीर को (चइत्ता) छोड़ कर (कत्थ) कहाँ पर (गंतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध होते हैं ।

भावार्थः—हे प्रभो ! जो आत्माएं मुक्ति में गयी है, वे कहाँ तो प्रतिहत हुई है ? कहाँ ठहरी हुई है ? मानव शरीर कहाँ पर छोड़ा है ? और कहाँ जा कर वे आत्माएँ सिद्ध होती है ?

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः—अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे अ पइट्ठिया ।
इहं बोंदि चइत्ता णं[1] तत्थ गंतूण सिज्झई ॥२६॥

छाया:—अलोके प्रतिहताः सिद्धाः, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः ।
इह शरीरं त्यक्त्वा, तत्र गत्वा सिद्धयन्ति ॥२६॥

अन्वयार्थः— हे इन्द्रभूति ! (सिद्धा) सिद्ध आत्माएँ (अलोए) अलोक में तो (पडिहया) प्रतिहत हुई हैं । (अ) और (लोयग्गे) लोकाग्र पर (पइट्ठिया) ठहरी हुई है । (इहं) इस लोक में (बोंदि) शरीर को (चइत्ता) छोड़कर (तत्थ) लोक के अग्रभाग पर (गंतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध हुई हैं ।

भावार्थः—हे गौतम ! जो आत्माएँ सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों से मुक्त होती हैं, वे फिर शीघ्र ही स्वाभाविकता से ऊर्ध्व लोक को गमन कर अलोक से प्रतिहत होती हैं । अर्थात् अलोक में गमन करने में सहायक वस्तु धर्मास्ति-काय[2] न होने से लोकाग्र में ही गति रुक जाती है । तब वे सिद्ध आत्माएँ लोक

१ णं वाक्यालंकार ।

२ A substance, which is the medium of motion to soul and matter, and which contains innumerable atoms of space, pervades the whole universe and has no fulcrum of motion.

के अग्रभाग पर ठहरी रहती है। वे आत्माएँ इस मानव शरीर को यहीं छोड़कर लोकाग्र पर सिद्धात्मा होती हैं।

मूल:—अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहसंपन्ना, उवमा जस्स नत्थि उ ॥२७॥

छाया:—अरूपिणो जीवघनाः, ज्ञानदर्शनसंज्ञिताः।
अतुलं सुखं सम्पन्नाः, उपमा यस्य नास्ति तु ॥२७॥

अन्वयार्थः—हे गौतम! (अरूविणो) सिद्धात्मा अरूपी हैं। और (जीवघणा) वे जीव घन रूप हैं। (नाणदंसणसन्निया) जिनकी केवलज्ञान दर्शन रूप ही संज्ञा है। (अउलं) अतुल (सुहसंपन्ना) सुखों से युक्त हैं (जस्स उ) जिसकी तो (उवमा) उपमा भी (नत्थि) नहीं है।

भावार्थः—हे गौतम! जो आत्मा सिद्धात्मा के रूप में होती हैं, वे अरूपी हैं, उनके आत्म-प्रदेश घन रूप में होते हैं। ज्ञान दर्शन रूप ही जिनकी केवल संज्ञा होती है और वे सिद्धात्माएँ अतुल सुख से युक्त रहती है। उनके सुखों की उपमा भी नहीं दी जा सकती है।

॥ श्री सुधर्मोवाच ॥

मूल:—एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी,
अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा णायपुत्ते भयवं,
वेसालिए विआहिए त्ति बेमि ॥२८॥

छाया:—एवं स उदाहृतवान् अनुत्तरज्ञान्यनुत्तरदर्शी,
अनुत्तर ज्ञानदर्शनधरः।
अर्हन् ज्ञातपुत्रः भगवान्,
वैशालिको विख्यातः ॥२८॥

अन्वयार्थः—हे जम्बू ! (अणुत्तरनाणी) प्रधान ज्ञान (अणुत्तरदंसी) प्रधान दर्शन अर्थात् (अणुत्तरनाणदंसणधरे) प्रधान ज्ञान और दर्शन उसके धारक, और (विआहिए) सत्योपदेशक (से) उन निर्ग्रन्थ (णायपुत्ते) सिद्धार्थ के पुत्र (वेसालिए) त्रिशला के अंगज (अरहा) अरिहंत (भयवं) भगवान् ने (एवं) इस प्रकार (उदाहु) कहा है। (त्ति बेमि) इस प्रकार सुधर्म स्वामी ने जम्बू स्वामी प्रति कहा है।

भावार्थः—हे जम्बू ! प्रधान ज्ञान और प्रधान दर्शन के धारी, सत्योपदेश करने वाले, प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल के सिद्धार्थ राजा के पुत्र और त्रिशला रानी के अंगज, निर्ग्रन्थ, अरिहंत भगवान महावीर ने इस प्रकार कहा है, ऐसा सुधर्म स्वामी ने जम्बू स्वामी के प्रति निर्ग्रन्थ के प्रवचन को समझाया है।

॥ इति अष्टादशोऽध्यायः ॥

अकाराद्यनुक्रमणिका

संकेत-सुबोधिका

(List of Abbreviations)

द = दशवैकालिक सूत्र,
अ — अध्याय,
गा = गाथा,
जी = जीवाभिगम सूत्र,
प्रक - प्रकरण,
उद्दे = उद्देशा,
उ = उत्तराध्ययन सूत्र,
स्था = स्थानांग सूत्र,
प्रश्न = प्रश्नव्याकरण सूत्र,
सम = समवायांग सूत्र,
सू = सूत्रकृतांग सूत्र,
प्रज्ञ = प्रथम,
ज्ञा = ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र,
आ = आचारांग सूत्र,
द्वि = द्वितीय,
भ = भगवती सूत्र,
षा — षातक

अ	पृष्ठांक	संदर्भ स्थल
अंग पच्चंग संठाणं	६०	(द. अ. ८ गा. ५८)
अइसीयं अइउण्हं	२०६	(जी.प्रक. ३ उद्दे. २ गा. १२)
अकलेवर से णिमूसि	१२४	(उ. अ. १० गा. ३५)
अक्कोसेज्जा परेभिक्खू	१६२	(उ. अ. २ गा. २७)
अच्छीनिमिलियमेत्तं	२०८	(जी.प्रक. ३ उद्दे. २ गा. ११)
अज्झवसाणनिमित्ते	४६	(स्था० ७वां)
अट्ठरुहाणि वज्जित्ता	१४५	(उ. अ. ३४ गा. ३१)
अट्ठ कम्माइं वोच्छामि	१२	(उ अ. ३३ गा. १)
अट्टदुहट्टियचित्ता अह	४२	(औपपातिक)

अ	पृष्ठांक	सन्दर्भस्थल
अवि से हासमसज्ज	१९९	(आ. प्रथ. अ. ३ उद्दे. २)
[illegible]मोसं [illegible]	[illegible]	(उ. अ. ७ गा. ३)
असुरा नागसुवण्णा	२१२	(उ. अ. ३६ गा. २०५)
असंखयं जीविय	१५५	(उ. अ. ४ गा. १)
अह अट्ठहिं ठाणेहिं	१६५	(उ. अ. ११ गा. ४)
अह पण्णरसहिं ठाणेहिं	२२६	(उ. अ. ११ गा. १०)
अह पंचहिं ठाणेहिं	१६५	(उ. अ. ११ गा. ३)
अह सव्वदव्वपरिणा	५६	(नन्दीसूत्र)
अहीणपंचिंदियत्तं	११७	(उ. अ. १० गा. १८)
अहे वयइ कोहेणं	१५३	(उ. अ. ९ गा. ५४)
आ		
आउक्कायमइगओ	११२	(उ. अ. १० गा. ६)
आगारिसामाइयंगाइं	७८	(उ. अ. ५ गा. २२)
आणाणिद्देसकरे	२२२	(उ. अ. १ गा. २)
आयगुत्ते सयादंते	१७६	(सू. प्रथ. अ. १० उद्दे. ३ गा. २१)
आयरियं कुवियं	२२९	(उ. अ. १ गा. ४१)
आलओ थी जणाइण्णो	८७	(उ. अ. १६ गा. ११)
आलोयण निरवलावे	४३	(सम. ३२वाँ)
आवरणिज्जाण दुण्हं	२३	(उ. अ. ३३ गा. २०)
आवस्सयं अवस्सं	२००	(अनुयोगद्वारसूत्र)
आसणगओ ण पुच्छेज्जा	२२३	(उ. अ. १ गा. २२)
आहच्च चण्डालियं कट्टु	१३३	(उ. अ. १ गा. ११)
इ		
इंगाली, वण, साडी	७३	(आवश्यकसूत्र)
इह इत्तरियम्मि आउए	११०	(उ. अ. १० गा. ३)
इओ विद्धंसमाणस्स	७१	(सू. प्रथ. अ १५ गा. १८)
इणमन्नं तु अन्नाणं	१३५	(सू. प्रथ. उद्दे. ३ गा. ५)
इमं च मे अत्थि इमं	१६३	(उ. अ. १४ गा. १५)

इ	पृष्ठाङ्क	संदर्भस्थल
इस्सा अमरिस अतवो	१४१	(उ. अ. ३४ गा. २३)
इहमेगे उ मण्णंति	५६	(उ. अ. ६ गा. ८)
ई		
ईसरेण कडे लोए	१३५	(सू. प्रथ. उद्दे. ३ गा. ६)
उ		
उदहीसरिसनामाणं	२३	(उ. अ. ३३ गा. १६)
उदहीसरिसनामाणं	२३	(उ. अ. ३३ गा. २१)
उदहीसरिसनामाणं	२३	(उ. अ. ३३ गा. २३)
उप्फालग दुट्ठवाई य	१४२	(उ. अ. ३४ गा. २६)
उवरिमा उवरिमा चेव	२१६	(उ. अ. ३६ गा. २१४)
उवलेवो होइ भोगेसु	६४	(उ. अ. २५ गा. ४१)
उवसमेण हणे कोहं	१५४	(उ. अ. ८ गा. ३६)
ए		
एए य संगे समाइक्कमित्ता	६५	(उ. अ. ३२ गा. १७)
एगतं च पुहुत्तं	१०	(उ. अ. २८ गा. १३)
एगया अचेलए होइ	१६२	(उ. अ. २ गा. २)
एगया देवलोएसु	२४	(उ. अ. ३ गा. ३)
एगे जिए जिया पंच	१७६	(उ. अ. २३ गा. ३६)
एयाणि सोच्चा णरगा०	२११	(सू प्रथ. अ. ५ उ. २ गा. २४)
एयं खु णाणिणो सारं	१७५	(सू.प्रथ.अ. ११ उ. १ गा. १०)
एयं च दोसं दट्ठूणं	१०२	(द. अ. ६ गा. २६)
एयं पंचविहं णाणं	५६	(उ. अ. २८ गा. ५)
एवं खु जंतपिल्लण	७४	(आवश्यकसूत्र)
एवं ण से होइ समाहि०	१०७	(सू. प्रथ. अ. १३ गा. १४)
एवं तु संजयस्सावि	१८४	(उ. अ. १३ गा. १६)
एवं धम्मस्स विणओ	३५	(द. अ. ६ उद्दे. २ गा. २)
एवं भवसंसारे	११५	(उ. अ. १० गा. १५)
एवं सिक्खासमावण्णे	७८	(उ. अ. ५ गा. २४)

ए	पृष्ठांक	सन्दर्भस्थल
एवं से उदाहु अणुत्तर	२३७	(उ. अ. ६ गा. १८)
एस धम्मे धुवे णितिए	३८	(उ. अ. १६ गा. १७)
क		
कणकुंडगं चइत्ताणं	१३२	(उ. अ. १ गा. ५)
कप्पाईया उ जे देवा	२१५	(उ. अ. ३६ गा. २२१)
कप्पोवगा बारसहा	२१४	(उ. अ. ३६ गा. २०६)
कम्माणं तु पहाणाए	३१	(उ. अ. ३ गा. ७)
कम्मुणा बंभणो होइ	८५	(उ. अ. २५ गा. ३३)
कलहडमरवज्जए	२२७	(उ. अ. ११ गा. १३)
कलहं अब्भक्खाणं	४८	(आवश्यकसूत्र)
कसिणं पि जो इमं लोगं	१५२	(उ. अ. ८ गा. १६)
कहं चरे कहं चिट्ठे कहं	५०	(द. अ. ४ गा. ७)
कहिं पडिहया सिद्धा	२३५	(उ. अ. ३६ गा. ५)
कामाणुगिद्धिप्पभवं	९६	(उ. अ. ३२ गा. १९)
कायसा वयसा मत्ते	१६०	(उ. अ. ५ गा. ७)
किण्हा नीला काऊ	१४६	(उ. अ. ३४ गा. ५६)
किण्हा नीला य काऊ	१३९	(उ. अ. ३४ गा. ३)
कुप्पवयणपासंडी	६५	(उ. अ. २३ गा. ६३)
कुसग्गे जह ओसबिंदुए	१०९	(उ. अ. १० गा. २)
कूइअं रुइअं गीअं	८७	(उ. अ. १६ गा. १२)
कोहे माणे माया लोभे	१३५	(प्रज्ञापना भाषापद)
कोहो अ माणो अ अणि	१४९	(द. अ. ८ गा. ४०)
कोहो पीइं पणासेइ	१५४	(द. अ. ८ गा. ३८)
ख		
खणमेत्तसुक्खा बहु	९२	(उ. अ. १४ गा. १३)
खामेमि सव्वे जीवा	७७	(आवश्यकसूत्र)
खित्तं वत्थुं हिरण्णं च	२२०	(उ. अ. ३ गा. १७)
ग		
गंधेसु जो गिद्धिमु	१८८	(उ. अ. २८ गा. ५०)

ग	पृष्ठांक	सन्दर्भस्थल
गइलक्खणो उ	६	(उ. अ. ३२ गा. ६)
गत्तभूसणमिट्ठं च	८७	(उ. अ. १६ गा. १३)
गारं पि अ आवसे	१७१	(सू. प्रथ. अ. २ उद्दे. ३ गा १३)
गुणाणमासओ दव्वं	१०	(उ. अ. २८ गा. ६)
गोयकम्मं तु दुविहं	२१	(उ. अ. ३३ गा. १४)
च		
चउरिंदियकायमइगओ	११४	(उ. अ. १० गा. १२)
चक्खुमचक्खू ओहिस्स	१४	(उ. अ. ३३ गा. ६)
चन्दा सूरा य नक्खत्ता	२१३	(उ. अ. ३६ गा. २०७)
चरित्तमोहणं कम्मं	१८	(उ. अ. ३३ गा. १०)
चिच्चा दुपयं च चउ	२८	(उ. अ. १३ गा. २४)
चिच्चाण धणं च भारियं	१२१	(उ. अ. १० गा. २९)
चित्तमंतमचित्तं वा	९९	(द. अ. ६ गा. १४)
चीराजिणं नगिणिणं	८२	(उ. अ. ५ गा. २१)
छ		
छिंदंति बालस्स खुरेण	२०५	(सू.प्रथ.अ. ५ उद्दे. १ गा. २२)
ज		
जं जारिसं पुव्वमकासि	२०९	(सू.प्रथ.अ. ५ उद्दे. २ गा. २३)
जं पि वत्थं व पायं वा	१०१	(द. अ. ६ गा. २०)
जं मे बुद्धाणुसासंति	२२४	(उ. अ. १ गा. २७)
जणवयसम्मयठवणा	१३४	(प्रज्ञापना भाषापद)
जणेण सद्धिं होक्खामि	१५९	(उ. अ. ५ गा. ७)
जमिणं जगती पुढा	१६७	(सू. प्रथ.अ. २ उद्दे. १ गा. ४)
जयं चरे जयं चिट्ठे	५१	(द. अ. ४ गा. ८)
जरा जाव न पीलेइ	३६	(द. अ. ८ गा. ३६)
जरामरणवेगेणं	३८	(उ. अ. २३ गा. ६८)
जह जीवा बज्झंति	४२	(औपपातिकसूत्र)
जह णग्गा गम्मंति	४०	(,,)

अ	पृष्ठांक	सन्दर्भस्थल
जह मिउलेवालित्तं	४६	(ज्ञा. अ. ६)
जह रागेण कडाणं	४३	(औपपातिकसूत्र)
जहा किंपागफलाणं	६३	(उ. अ. १६ गा. १८)
जहा कुक्कुडपोअस्स	८८	(द. अ. ८ गा. ३४)
जहा कुम्मे स अंगाइं	१७४	(सू.प्रथ. अ. ८ उद्दे. १ गा. १६)
जहा कुसग्गे उदगं	२१६	(उ. अ. ७ गा. २३)
जहा दड्ढाणं बीयाणं	२३५	(दशाश्रुत स्कं. अ. ५ गा. १३)
जहा पोमं जले जायं	८४	(उ. अ. २५ गा. २७)
जहा बिरालावसहस्स	८६	(उ. अ. ३० गा. १३)
जहा महातलागस्स	१८४	(उ. अ. ३० गा. ५)
जहा य अंडप्पभवा बलागा	२८	(उ. अ. ३२ गा. ६)
जहा सुणी पूइकण्णी	१३२	(उ. अ. १ गा. ४)
जहा सूई ससुत्ता	५८	(उ.अ. २६ बोल ५६वां)
जहा हि अग्गी जलणं	२२८	(द. अ. ६ उद्दे. १ गा. ११)
जहेह सीहो व मिअं	१६३	(उ. अ. १३ गा. २२)
जाए सद्धाए निक्खंतो	१०८	(द. अ. ८ गा. ६१)
जा जा वच्चइ रयणी	३६	(उ. अ. ४ गा. २४)
जा जा वच्चइ रयणी	३७	(उ. अ. १४ गा. २५)
जाति च वुड्ढि च इहज्ज	७०	(आ. अ. ३ उद्दे. २)
जावंतऽविज्जापुरिसा	५८	(उ. अ. ६ गा. १)
जाय रूवं जहामट्ठं	८३	(उ. अ. २५ गा. २१)
जा य सच्चा अवत्तव्वा	१२६	(द. अ. ७ गा. २)
जिणवयणे अणुरत्ता	७०	(उ. अ. ३६ गा. २५८)
जीवाऽजीवा य बंधो य	७	(उ. अ. २८ गा. १४)
जे आवि अप्पं वसुमंति	१५०	(सू.प्रथ.अ.१३ उद्दे. १ गा. ८)
जे इह सायाणुगनरा	१६६	(सू प्रथ. अ. २ उद्दे. ३ गा. ४)
जे केइ बाला इह जीवियं य	२०४	(सू.द्वि. अ. ५ उद्दे. ३ गा. ३)
जे केइ सरीरे सत्ता	६१	(उ. अ. ६ गा. ११)
जे कोहणे होइ जगय	१५०	(सू.प्रथ.अ. १३ उद्दे. १ गा. ५)

क	पृष्ठांक	सन्दर्भस्थल
जे गिद्धे काम भोएसु	१५८	(उ. अ. ५ गा. ५)
जे न वंदे न से कुप्पे	१०५	(द. अ. ५ उद्दे. २ गा. ३०)
जे पारिभवई परं जणं	१६६	(सू.प्रथ.अ. २ उद्दे. १ गा. २)
जे पावकम्मेहिं धणं	२१०	(उ. अ. ४ गा. २)
जे य कंते पिए भोए	१८२	(द. अ. २ गा. ३)
जे लक्खणं सुविणं पउं	१६६	(उ. अ. २० गा. ४५)
जेसिं तु विउला सिक्खा	२१७	(उ. अ. ७ गा. २१)
जो समो सव्वभूएसु	२०१	(अनुयोगद्वारसूत्र)
जो सहस्सं सहस्साणं	५	(उ. अ. ९ गा. ३४)
ह		
डहरा बुड्ढाय पासह	१६६	(सू.प्रथ.अ. २ उद्दे. १ गा. २)
डहरे य पाणे बुड्ढे य	१७७	(सू. प्रथ. अ. १३ गा. १८)
ण		
णच्चा णमइ मेहावी	२३०	(उ. अ. १ गा. ४५)
ण चित्ता तायए भासा	६०	(उ. अ. ६ गा. १०)
णरगं तिरिक्खजोणिं	४१	(औपपातिकसूत्र)
णो रक्खसीसु गिज्झेज्जा	९०	(उ. अ. ८ गा. १८)
त		
तं चेव सच्चिमुक्कं	५०	(ज्ञा अ. ६)
तओ पुट्ठो आयंकेण	१६१	(उ. अ. ५ गा. ११)
तओ से दंडं समारभइ	१५९	(उ. अ. ५ गा. ८)
तत्थ ठिच्चा जहाठाणं	२२०	(उ. अ. ३ गा. १६)
तत्थ पंचविहं नाणं	५५	(उ. अ. २८ गा. ४)
तम्हा एयासि लेसाणं	१४७	(उ. अ. ३४ गा. ६१)
तवस्सियं किसं दंतं	८३	(उ. अ. २५ गा. १२)
तवो जोई जीवो जोइठाणं	५२	(उ. अ. १२ गा. ४४)
तहा पयणुवाई य	१४४	(उ. अ. ३४ गा. ३०)
तहिआणं तु भावाणं	६६	(उ. अ. २८ गा. १५)

	पृष्ठांक	सन्दर्भस्थल
त		
तहेव काणं काणे त्ति	१२७	(द. अ. ७ गा. १२)
तहेव फरुसा भासा	१२७	(द. अ. ७ गा. ११)
तहेव सावज्जणुमोयणी	१२९	(द. अ. ७ गा. ५४)
ताणि ठाणाणि गच्छंति	७९	(उ. अ. ५ गा. २८)
तिण्णो हु सि अण्णवं महं	१२४	(उ. अ. १० गा. ३४)
तिण्णिय सहस्सा सत्तं स	२०२	(भ. श. ६ उद्दे. ७)
तिविहेण वि पाण	१७२	(सू.प्रथ.अ. २ उद्दे.३ गा. २१)
तिव्वं तसे पाणिणो था	२०४	(सू. प्रथ. अ. ५ उद्दे. १ गा. ४)
तेइंदियकायमइगओ	११४	(उ. अ. १० गा. १२)
तेउकायमइगओ	११२	(उ. अ. १० गा. ७)
तेऊ पम्हा सुक्का	१४६	(उ. अ. ३४ गा. ५७)
तेणे जहा संधिमुहे	२५	(उ. अ. ३ गा. ३)
ते तिप्पमाणा तलसं	२०६	(सू.प्रथ.अ. ५ उद्दे. १ गा. २३)
तेत्तीसं सागरोवम	२३	(उ. अ. ३३ गा. २२)
द		
दंसणवयसामाइय पोस	७६	(आवश्यकसूत्र)
दंसणविणए आवस्सए	४७	(ज्ञा. अ. ८)
दसहा उ भवणवासी	२१२	(उ. अ. ३६ गा. २०४)
दाणे लाभे य भोगे य	२२	(उ. अ. ३३ गा. ५)
दीहाउ या इड्डि मंता	७९	(उ. अ. ५ गा. २७)
दुक्खं हयं जस्स न होई	३०	(उ. अ. ३२ गा. ८)
दुपरिच्चया इमे कामा	६३	(उ. अ. ८ गा. ६)
दुमपत्तए पंडुरए जहा	१०९	(उ. अ. १० गा. १)
दुल्लहा उ मुहादाई	८०	(द.अ. ५ उद्दे. १ गा. १००)
दुल्लहे खलु माणुसे भवे	१११	(उ. अ. १० गा. ४)
देवदाणवगंधव्वा	६७	(उ. अ. १६ गा. १६)
देवा चउव्विहा वुत्ता	२११	(उ. अ. ३६ गा. २०३)
देवाणं मणुयाणं च	१२८	(द. अ. ७ गा. ५)
देवे नेरइए अइगओ	११५	(उ. अ. १० गा. १४)

ध	पृष्ठाङ्क	संदर्भस्थल
धम्मे हरए बंभे	५३	(उ. अ. १२ गा. ४६)
धम्मो अहम्मो आगासं	८	(उ. अ. २८ गा. ७)
धम्मो अहम्मो आगासं	८	(उ. अ. २८ गा. ८)
धम्मो मंगलमुक्किट्ठं	३३	(द. अ. १ गा. १)
धम्मं पि हु सद्दहंतया	११९	(उ. अ. १० गा. २०)
धिईमई य संवेगे	४४	(समः ३२वाँ)
न		
न कम्मुणा कम्म खवेंति	१७६	(सू. प्रथ. अ. १२ गा. १५)
न तस्स जाई व कुलं व	१०६	(सू. प्रथ. अ. १३ गा. ११)
न तस्स दुक्खं विभयंति	२७	(उ. अ. १३ गा. २३)
नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं	६७	(उ. अ. २८ गा. २९)
न तं अरी कंठछेत्ता करेइ	३	(उ. अ. २० गा. ४८)
न पूयणं चेव सिलोय	१०७	(सू. प्रथ. अ. १३ गा. २२)
न य पावपरिक्खेवी	२२७	(उ. अ. ११ गा. १२)
न वि मुंडिएण समणे	८४	(उ. अ. २५ गा. ३१)
न सो परिग्गहो वुत्तो	१०१	(द. अ. ६ गा. २१)
न हु जिणे अज्ज दिसई	१२२	(उ. अ. १० गा. ३१)
नाणस्स सव्वस्स पगासणाए	२२३	(उ. अ. ३२ गा. २)
नाणस्सावरणिज्जं	१२	(उ. अ. ३३ गा. २)
नाणेण जाणई भावे	२३३	(उ. अ. २८ गा. ३५)
नाणं च दंसणं चेव	२३२	(उ. अ. २८ गा. ३)
नाणं च दंसणं चेव	७	(उ. अ. २८ गा. ११)
नादंसणिस्स नाणं	६७	(उ. अ. २८ गा. ३०)
नामकम्मं च गोयं च	१२	(उ. अ. ३३ गा. ३)
नामकम्मं तु दुविहं	२०	(उ. अ. ३३ गा. १३)
नासीले न विसीले अ	१९५	(उ. अ. ११ गा. ५)
नाणावरणं पंच विहं	१३	(उ. अ. ३३ गा. ४)
निद्दा तहेव पयला	१४	(उ. अ. ३३ गा. ५)
निद्धंधसपरिणामो	१४०	(उ. अ. ३४ गा. २२)

न	पृष्ठांक	संदर्भस्थल
निम्ममो निरहंकारो	६१	(उ. अ. १६ गा. ८६)
निव्वाणं ति अबाहं ति	२३१	(उ. अ. २३ गा. ८३)
निस्सगुवएसरुई	६६	(उ. अ. २८ गा. १६)
निस्संकिय निक्कंखिय	६८	(उ. अ. २८ गा. ३१)
नीयावित्ती अचवले	१४३	(उ. अ. ३४ गा. २७)
नेरइयतिरिक्खाउं	१६	(उ. अ. ३३ गा. १२)
नेरइया सत्तविहा	२०३	(उ. अ. ३६ गा. १५६)
नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा	१	(उ. अ. १४ गा. १६)
नो चेव ते तत्थ मसी	२०८	(सू. प्रथ. अ.५ उद्दे. १ गा. १६)
प		
पंका भा धूमा भा	२०३	(उ. अ. ३६ गा. १५७)
पंचासवप्पवत्तो	१४०	(उ. अ. ३४ गा. २१)
पंचिंदियकायमइगओ	११५	(उ. अ. १० गा. १३)
पंचिंदियाणि कोहं	६	(उ. अ. ६ गा. ३६)
पइण्णवाइ दुहिले	२२५	(उ. अ. ११ गा. ६)
पच्चक्खाणे विउस्सग्गे	४५	(समo ३२वाँ)
पच्छा वि ते पयाया	५२	(द. अ. ४ गा. २८)
पडिणीयं च बुद्धाणं	१३४	(उ. अ. १ गा. १७)
पडंति नरए घोरे	१६७	(उ. अ. १८ गा. २५)
पढमं नाणं तओ दया	५७	(द. अ. ४ गा. १०)
पण्णसमत्ते सया जए	१०५	(सू.प्रथ. अ. २ उद्दे. २ गा. ६)
पयणुक्कोहमाणे य	१४४	(उ. अ. ३४ गा. २६)
परमत्थसंथवो वा	६४	(उ. अ. २८ गा. २८)
परिजूरइ ते सरीरयं	११६	(उ. अ. १० गा. २१)
पाणाइवायमलियं	४८	(आवश्यकसूत्र)
पाणिवहमुसावाया	१८३	(उ. अ. ३० गा. २)
पायच्छित्तं विणओ	१८६	(उ. अ. ३० गा. ३०)
पियधम्मे दढ़ धम्मे	१४३	(उ. अ. ३४ गा. २८)
पिसाय भूय जक्खा य	२१३	(उ. अ. ३६ गा. २०६)

प	पृष्ठांक	संदर्भस्थल
पुढविकायमइगओ	१११	(उ. अ. १० गा. ५)
पुढवि न खणे न खणावए	१०२	(द. अ. १० गा. २)
पुढवी साली जवा चेव	१५३	(उ. अ. ६ गा. ४६)
पूयणट्ठा जसोकामी	१५१	(द. अ. ५ उद्दे. २ गा. ३५)
फ		
फासस्स जो गिद्धि मुवेई	१८६	(उ. अ. ३२ गा. ७६)
ब		
बहिया उड्ढमादाय	८०	(उ. अ. ६ गा. २३)
बहु आगमविण्णाणा	१६७	(उ. अ. ३६ गा. २६१)
बाला किड्डा य मंदा य	३२	(स्था० १०वाँ)
बालाणं अकामं तु	१६४	(उ. अ. ५ गा. ३)
बेइंदिअकायमइगओ	११३	(उ. अ. १० गा. १०)
भ		
भणंता अकरिंता य	६०	(उ. अ. ६ गा. ६)
भावणाजोग सुद्धप्पा	१६८	(सू. प्रथ. अ. १५ गा. ५)
भोगामिसदोसविसन्ने	६१	(उ. अ. ८ गा. ५)
म		
मज्झिमा मज्झिमा चेव	२१६	(उ. अ. ३६ गा. २१३)
मणो साहसिओ भीमो	१७६	(उ. अ. २३ गा. ५८)
महव्वए पंच अणुव्वए य	७२	(सू. द्वि. अ. ६ गा. ६)
महासुक्का सहस्सारा	२१४	(उ. अ. ३६ गा. २१०)
महुकारसमा बुद्धा	१०४	(द. अ. १ गा. ५)
माणुस्सं च अणिच्चं	४०	(औपपातिकसूत्र)
माणुस्सं विग्गहं लद्धु	३३	(उ. अ. ३ गा. ८)
मायाहिं पियाहिं लुप्पइ	१६६	(सू.प्रथ.अ. २ उद्दे. १ गा. ३)
माहणा समणा एगे	१३६	(सू. प्रथ. उद्दे २ गा. ८)
मिच्छादंसणरत्ता	६६	(उ. अ. ३६ गा. २५५)
मित्तव नाइव होई	२२१	(उ. अ. ३ गा. १८)

म	पृष्ठांक	सन्दर्भस्थल
मुसावाओ य लोगम्मि	९८	(द. अ. ६ गा. १३)
मुहुत्त दुक्खा उ हवंति	१३०	(द. अ. ९ उद्दे. ३ गा. ७)
मूलमेयमहम्मस्स	९९	(द. अ. ६ गा. १७)
मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स	३४	(द. अ. ९ उद्दे. २ गा. १)
मोक्खाभिकंखिस्स व माण	[illegible]	(उ. अ. ३२ गा. १७)
मोहणिज्ज पि दुविहं	१७	(उ. अ. ३३ गा. ८)
र		
रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं	१८९	(उ. अ. ३२ गा. ६३)
रागो य दोसो वि य कम्म	२९	(उ. अ. ३२ गा. ७)
रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं	१८७	(उ. अ. ३२ गा. २४)
रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सि.	२०७	(सू.प्रथ.अ.५ उद्दे. १ गा. १९)
ल		
लद्धूणवि आरियत्तणं	११७	(उ. अ. १० गा. १७)
लद्धूणवि उत्तमं सुइं	११८	(उ. अ. १० गा. १९)
लद्धूण वि माणुसत्तणं	११६	(उ. अ. १० गा. १६)
लाभालाभे सुहे दुक्खे	६२	(उ. अ. १९ गा. ९०)
लोभस्से समणुप्फासो	१००	(द. अ. ६ गा. १९)
व		
वंके वंकसमायारे	१४२	(उ. अ. ३४ गा. २५)
वणस्सइ कायमइगओ	११३	(उ. अ. १० गा. ९)
वत्तणालक्खणो कालो	९	(उ. अ. २८ गा. १०)
वत्थगंधमलंकारं	१८१	(द. अ. २ गा. २)
वरं मे अप्पा दंतो	४	(उ. अ. १ गा. १६)
वाउक्काय मइगओ	११२	(उ. अ. १० गा. ८)
वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते	१५६	(उ. अ. ४ गा. ५)
विरया वीरा समुट्ठिया	१६८	(सू.प्रथ.अ.२ उद्दे. १ गा. १२)
विसालिसेहिं सीलेहिं	२१८	(उ. अ. ३ गा. १४)
वेमाणिया उ जे देवा	२१४	(उ. अ. ३६ गा. २०८)

व	पृष्ठांक	संदर्भस्थल
वेमायाहिं सिक्खाहिं	३१	(उ. अ. ७ गा. २०)
वेयणियं पि दुविहं	१६	(उ. अ. ३३ गा. ७)
वोच्छिंद सिणेहमप्पणो	१२१	(उ. अ. १० गा. २८)
स		
संगाणं च परिण्णाया	४६	(सम. ३२वां)
संति पगहिं भिक्खूहिं	८१	(उ. अ. ५ गा. २०)
संबुज्झमाणे उ णरे	१३१	(सू.प्रथ.अ.१० उद्दे.१ गा.२१)
संबुज्झह किं न बुज्झह	१६५	(सू.प्रथ.अ. २ उद्दे. १ गा. १)
संबुज्झहा जंतवो माणु	१७३	(सू.प्रथ.अ.७ उद्दे.१ गा. २१)
संरंभसमारंभे आरंभ	१८१	(उ. अ. २४ गा. २१)
संसारमावण्ण परस्स	२६	(उ. अ. ४ गा. ४)
सएहिं परियाएहिं	१३७	(सू. प्रथ. उद्दे. ३ गा. ६)
सक्का सहेउं आसाइ	१३०	(द. अ. ६ उद्दे. ३ गा. ६)
सच्चा सहेव मोसा य	१८०	(उ. अ. २४ गा. २०)
सत्थग्गहणं विसभक्खणं	१६४	(उ. अ. ३६ गा. २६६)
स देवगन्धव्वमणुस्सपूइए	२३०	(उ. अ. १ गा. ४८)
सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ	१८७	(उ. अ. ३२ गा. ३७)
सद्धयारउज्जोओ	१०	(उ. अ. २८ गा. १२)
समणं संजयं दंतं	१६३	(उ. अ. २ गा. २७)
समरेसु अगारेसु	१६१	(उ. अ. १ गा. २६)
समयाए समणो होई	८५	(उ. अ. २५ गा. ३२)
समाए पेहाए परिव्वयंतो	१८२	(द. अ. २ गा. ४)
सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं	१७	(उ. अ. ३३ गा. ६)
सम्मद्दंसणरत्ता अनियाणा	६६	*(उ. अ. ३६ गा. २५६)*
सयंभुणा कडे लोए	१३६	(सू. प्रथ. उद्दे. १ गा. ७)
सरागो वीयरागो वा	१४५	(उ. अ. ३४ गा. ३२)
सरीरमाहु नाव त्ति	६	(उ. अ. २३ गा. ७३)
सल्लं कामा विसं कामा	६१	(उ. अ. ६ गा. ५३)
सवणे नाणे विण्णाणे	१६८	(भ. श. २ उ. ५)

स	पृष्ठांक	संदर्भस्थल
सव्वत्थ सिद्धगा चेव	२१६	(उ. अ. ३६ गा. २१५)
सव्वं तओ जाणइ पासए	२३४	(उ. अ. ३२ गा. १०६)
सव्वं विलवियं गीयं	१६२	(उ. अ. १३ गा. १६)
सव्वे जीवा वि इच्छंति	६८	(द. अ. ६ गा. ११)
साणं सूइयं गाविं	१६१	(द. अ. ५ उद्दे. १ गा. १२)
सायगवेसए य आरंभा	१४१	(उ. अ. ३४ गा. २४)
सावज्ज जोगविरई	२०१	(अनुयोगद्वारसूत्र)
साहरे हत्थपाए य	१७४	(सू.प्रथ.अ.८ उद्दे.१ गा. १७)
सुआ मे नरए ठाणा	१८१	(उ. अ. ५ गा. १२)
सुक्क मूले जहा रुक्खे	२३४	(दशाश्रुतस्कन्ध अ.५गा. १४)
सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी	१५७	(उ. अ. ४ गा. ६)
सुव्वणरुप्पस उ पव्वया	१५२	(उ. अ. ६ गा. ४८)
सोच्चा जाणइ कल्लाणं	५७	(द. अ. ४ गा. ११)
सो तवो दुविहो वुत्तो	१८५	(उ. अ. ३० गा. ७)
सोलसविह भेएणं	१८	(उ. अ. ३३ गा. ११)
सोही उज्जुअभूयस्स	३७	(उ. अ. ३ गा. १२)
ह		
हिंसे बाले मुसावाई	१६०	(उ. अ. ५ गा. ६)
हत्थ पायपडिछिन्नं	८६	(उ. अ. ८ गा. ५६)
हत्थागया इमे कामा	१५८	(उ. अ. ५ गा. ६)
हियं विगयभया बुद्धा	२२४	(उ. अ. १ गा. २६)
हेट्ठिमा हेट्ठिमा चेव	२१६	(उ. अ. ३६ गा. २१२)

★